रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स। विद्या। टा। ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर १९६८

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

सह-सम्पादक एवं व्यवस्थापक

सन्तोषकुमार झा

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर (मध्यप्रदेश)

फोन नं. १०४६

विवेक ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा — भारत में —४) एक अंक का १)
विदेशों में — २ डालर या १० शिलिंग

ग्राहकों के लिये—

१. 'विवेक ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्टूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिये। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती हैं।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

लेखकों के लिये—

१. 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति, महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए जायेंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देनेवाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक मे स्थान रहेगा।

सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचना आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिये की अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. लेख कागज के एक ही ओर सुवाच्य, अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख सम्बन्धी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

—व्यवस्थापक

—: सूचना :—

'विवेक-ज्योति' के पिछले अंकों की कुछ प्रतियाँ प्राप्य हैं। जो इन पिछले अंकों का संग्रह करना चाहते हैं, वे १) की एक प्रति के हिसाब से खरीद सकते हैं। सुन्दर उद्‌बोधक विचारप्रवण लेखों से परिपूर्ण 'विवेक–ज्योति' का हर अंक संग्रहणीय है।

—व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र-परिचय : स्वामी विवेकानन्द
(थाउजेंड आइलैंड पार्क अमेरिका, जुलाई १८९५)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(द्वितीय तालिका)

४१. डा. बी. सी. गुप्ता, बूढ़ापारा, रायपुर
४२. प्रा. बालचंद्र कछवाहा, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर
४३. श्रीमती कुसुम रतेरिया, रायगढ़
४४. ,, प्रकाशवती मिश्र, सिविल लाइंस रायपुर
४५. ,, डा. कीर्तिलता दत्त, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा
४६. ,, सौभाग्यवती शंकर, महानगर, लखनऊ
४७. ,, रुक्मिणी मथुरादासजी, मरीन ड्राइव, वम्बई
४८. कुमारी श्यामारानी गुप्ता, नयापारा, रायपुर
४९. श्री खवचंद राठौर, राठौर चौक, रायपुर
५०. ,, नेमीचंद जैन, गंजपारा, रायपुर
५१. ,, अनराज केवलचंद, हलवाई लेन, रायपुर
५२. ,, डायालाल मेघजी एंड कं., मालवीय रोड, रायपुर
५३. ,, राजस्थान इलेक्ट्रिक स्टोर्स, सदर बाजार, रायपुर
५४. ,, अमीचंद रामगोपाल अग्रवाल, भाटापारा
५५. ,, कालिका प्रसाद ठाकुर, कांट्रेक्टर, रायपुर
५६. डा. एम. आर. भागवत, सत्तीबाजार, रायपुर
५७. श्री कन्हैयालाल अग्रवाल, अग्रवाल कैंडल स्टोर्स, रायपुर
५८. ,, नरसिंहप्रसाद खिचरिया, कातुलबोड़, दुर्ग
५९. ,, कांतिलाल रूढ़ाभाई, स्टेशन रोड, रायपुर
६०. ,, प्यारेलाल धांड, तेलघानी नाका, रायपुर

६१. श्री जशनमल हरिमल राइस मिल्स, तेलघानी नाका, रायपुर
६२. ,, एम. सी. छाबरिया, खार, वम्वई
६३. ,, प्रोप्राइटर, जयराम टाकीज, रायपुर
६४. ,, महन्त लक्ष्मीनारायणदास जी, रायपुर
६५. ,, प्रभुलाल व्यास, रायपुर इडस्ट्रीज, रायपुर
६६. ,, वी. ए. कामदार, कामदार प्रा० लि०, बंवई-१
६७. ,, करमसी जेठाभाई सोमैय्या, गोदावरी सुगर मिल्स, वम्वई
६८. ,, शिवराम श्रीप्रकाश पोद्दार, कालबादेवी रोड़, बंवई
६९. ,, कांतिलाल एम. राठौर, वार्डन रोड, बंवई
७०. ,, नारायणदास के. वजीर, पेडर रोड, बंबई
७१. ,, रमेश भगवानदास मलचीजा, खार रोप, वबई
७२. ,, रामकिशन आई. बजाज, मरीन ड्राइव, बंवई
७३. ,, आत्माराम जगदीशलाल, नेताजी सुभाष रोड, बंवई
७४. ,, मगनलाल ड्रेसवाला, भूलेश्वर, बंबई
७५. ,, एन. एच. दमानिया, गोवालिया टैंक रोड, बंबई
७६. ,, दयाराम धानजी कोठारी, प्रिंसेस स्ट्रीट, बंबई
७७. ,, सेठ केवलराम घनश्यामदास, सीताकुंज, बंबई
७८. ,, एच. आर. ठक्कर, आर्किटेक्ट, चौपाटी, बंबई
७९. डा. आर. एम. वधेलवाला, सांताक्रूज, बंबई
८०. पं. शिवजी शर्मा, फोर्ट, बंवई
८१. श्री पृथ्वीराज कपूर, जुहू, बंवई
८२. ,, हरिकिशनदास अग्रवाल, देवीदयाल केबल्स, बंवई

८३. श्री सूर्यकुमार जवेरी, रुत्री बैटरी कारपोरेशन, बंबई
८४. ,, जी. एम. पंड्या, सांताक्रूज, बंबई
८५. ,, प्रेम देवीदयाल, मरीन ड्राइव, बंबई
८६. ,, के. एम. दीवान, सोलिसीटर, बंबई
८७. ,, वल्लभदास व्ही. मारीवाला, नरसीनाथ स्ट्रीट, बंबई
८८. ,, जवेरचंद एन. मेहता, मरीन ड्राइव, बंबई
८९. ,, आर. टी. वोरा, नेपियन सी रोड, बंबई
९०. मेसर्स नन्दलाल चाटनदास, सालेम
९१. ,, पोरबंदर घी डिपो, कालवादेवी रोड, बंबई
९२. ,, इंडो बर्मा ट्रेडिंग कारपोरेशन, कालवादेवी, ,,
९३. ,, ठाकुरदास जेठानंद एंड कं. नरसीनाथ, स्ट्रीट, बंबई
९४. ,, बद्रीप्रसाद राधाकिशन, मरीन ड्राइव, बंबई
९५. ,, जौहरीमल देवीप्रसाद, कालवादेवी, बंबई
९६. ,, रुइयाँ ब्रदर्स, कालबादेवी, बंबई
९७. ,, नानावटी तिजोरीवाला एंड कं. ब्रूस स्ट्रीट, बंबई
९८. ,, तुलसीदास खिमजी प्रा. लि. वीर नरीमन रोड, बंबई
९९. श्री बुलाकीलाल पुजारी, रायपुर
१००. ,, नगेन्द्रसिंह
१०१. ,, आनन्दरामजी,
१०२. ,, जगन्नाथप्रसाद वाजपेयी, अधिवक्ता, रायपुर

१०३. श्री नन्दकिशोर अग्रवाल, भाईजी गेरेज, रायपुर
१०४. „ दुर्गाशंकर दवे, शारदा चौक, रायपुर
१०५. „ मनसुखलाल चन्देल, अधिवक्ता रायपुर
१०६. „ रामूराम पटेल
१०७. डा. सी. एन. डफाल, हमीदिया अस्पताल, भोपाल
१०८. डा. रामकुमार चौधरी,
१०९. श्री पुरषोत्तम राव गोपालराव तापस, दुर्ग
११०. „ नरेशकुमार तिवारी, वालसमुंद, रायपुर
१११. „ वालाराम वर्मा, नारा, रायपुर
११२. „ आत्माराम खंडेलवाल, रामसागरपारा, रायपुर
११३. „ चोवाराम नायक, तात्यापारा, रायपुर
११४. „ शिवजी जेराम भाई, रायपुर
११५. „ बलराम माधवजी, रायपुर
११६. „ ओमप्रकाश धुरंधर, औंधी दुर्ग
११७. „ जवाहरलाल चन्द्राकर, औंधी दुर्ग
११८. „ देवचरण चन्द्राकर, कुकदा, दुर्ग
११९. „ दाऊ राम आसरा, कुकदा, दुर्ग
१२०. „ पुसऊ राम साहू, टेलरमास्टर, रायपुर
१२१. „ बालचंद बंशीलाल राठौर, रायपुर
१२२. „ मंगूलाल राठौर, राठौर चौक, रायपुर
१२३. „ रामस्वरुप अग्रवाल, लक्ष्मी दाल मिल,
रायपुर

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण – विवेकानन्द – भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ६] जुलाई – अगस्त – सितम्बर [अंक ३

वार्षिक शुल्क ४) ❋ १९६८ ❋ एक प्रति का १)

ज्ञानी अजान और अजान ज्ञानी!

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

– ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसके लिए वह जाना हुआ है और जो उसे जानता है उसके लिए वह अज्ञात है। कारण यह है कि वह ज्ञानियों के लिए अज्ञात है और जो अज्ञानी हैं उनके लिए वह ज्ञात है! (तात्पर्य यह है कि ब्रह्म अन्य वस्तुओं के समान विषय रूप से दृष्टिगोचर नहीं होता। इसीलिए जो उसे जानने का दावा करता है वह वास्तव में उसके तत्व को नहीं जानता। जो यथार्थ में उसकी अनुभूति करते हैं, वे उसके स्वरूप के सम्बन्ध में मौन रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म मन-वाणी का विषय नहीं है।)

– केनोपनिषद्, २/३

बारह सौ सिरमुड़े और तेरह सौ सिरमुड़ी

नित्यानन्द गोस्वामी के पुत्र थे वीरभद्र। वीरभद्र के तेरह सौ सिरमुड़े शिष्य थे। शिष्यों ने गुरु के मार्ग-दर्शन में साधनाएँ कीं और अन्त में वे सभी सिद्ध हो गये। तब तो वीरभद्र को डर लगने लगा। वे सोचने लगे, 'ये लोग सिद्ध हो गये, अब जिसको जो कहेंगे वही फलित होगा। ये लोग जिधर से जायेंगे, उधर ही डर बना रहेगा। लोग यदि अनजान में कोई अपराध कर बैठें, तो उनका अकल्याण होगा।' वीरभद्र इस चिन्ता से ग्रस्त हो गये। वे कोई उपाय सोचने लगे जिससे निरपराध लोगों का अमंगल न होने पाये। अन्त में अचानक वीरभद्र को एक उपाय सूझा। उन्होंने अपने उन तेरह सौ शिष्यों को बुलाया और उनसे कहा, 'तुम लोग जाओ, गंगा में सन्ध्या-आह्निक करके आओ।' उन सिरमुड़ों का तेज ऐसा था कि ध्यान करते करते उन्हें समाधि लग गयी। उन्होंने ब्रह्मचर्य आदि यम-नियमों का निष्ठापूर्वक पालन किया था। उन्हें समाधि ऐसी गहरी लगी कि कब नदी में ज्वार आकर सिर पर से बह गया, इसका कोई होश न रहा। फिर भाटा का भी समय हो आया। फिर भी उनका ध्यान न टूटा। उन तेरह सौ सिरमुड़ों में एक सौ सिरमुड़े कुछ अधिक चतुर और बुद्धिमान थे। वे समझ गये थे कि किस

अभिप्राय से उनके गुरु वीरभद्र ने उन्हें गंगा से सन्ध्यादि कर्म करके आने को कहा है। उन्होंने यह भी अनुमान लगा लिया कि वापस जाने पर गुरुदेव क्या आज्ञा देंगे। गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करते भी नहीं बनेगा ऐसा सोचकर ध्यान टूटने पर वे सौ सिरमुड़े चुपचाप वहाँ से खिसक गये और गुरु के पास नहीं लौटे। बाकी बारह सौ सिरमुड़े सन्ध्या-ध्यान आदि निपटाकर गुरु के पास वापस आये। वीरभद्र ने उनसे कहा, 'ये तेरह सौ सिर-मुड़ी तुम्हारी सेवा करेंगी। तुम लोग इनसे विवाह कर लो।' वे लोग बोले, 'जैसी आपकी आज्ञा। पर हममें से एक सौ जन तो कहीं चले गये हैं!' ये बारह सौ सिर-मुड़े अब अपनी अपनी दासी के साथ रहने लगे। धीरे धीरे उनका सारा तेज चला गया और तपस्या का बल भी क्षीण हो गया। स्त्री के साथ रहने से तेज और तपस्या सभी नष्ट हो गये। जो एक सौ सिरमुड़े परि-स्थिति को भाँपकर खिसक गये थे, वे बच गये।

और सुनो। जयपुर के गोविन्दजी मन्दिर के पुजारी ने तब विवाह नहीं किया था। तब वह बड़ा तेजस्वी था। राजा ने एक बार उसे बुलौवा भेजा, पर वह नहीं गया। उलटे कहला भेजा, "राजा को यहाँ आने को कहो।" बाद में राजा और पाँच लोगों ने मिलकर उसकी शादी कर दी। उसके बाद कभी भी राजा को पुजारी बुलवाने की जरूरत न पड़ी। वह स्वयं होकर बीच बीच में आ जाता था। "महाराज, आशीर्वाद करने

आया हूँ", "आपके लिए यह निर्माल्य ले आया हूँ, धारण करें" –ऐसे कितने ही प्रसंग निकालकर वह आने लगा। कारण क्या था, जानते हो ? उसका विवाह जो कर दिया था ! आज घर बनाना है, आज पत्नी की फ़रमाइश पूरी करनी है, आज मुन्ने का अन्नप्राशन है, तो आज उसका अक्षरारम्भ है !

कामिनी और कांचन जीव को बाँध लेते हैं। जीव की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। कामिनी आने से ही कांचन की आवश्यकता होती है। उसके लिए दूसरों की दासता करनी पड़ती है। स्वाधीनता चली जाती है। मनुष्य अपने मन के अनुसार काम नहीं कर पाता। अतः, सावधान !

●

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखं।
तृष्णाक्षयसुखलेशैर्नार्हतः षोड़शी कलाम् ।।

– संसार में जितने भी सुख काम के द्वारा मिलते हैं या बनाये गये हैं और जो भी सुन्दर तथा महान् सुख हैं, वे सभी तृष्णा के नाश से जो सुख मिलता है उसके सोलहवें अंश की भी तुलना में नहीं आ सकते।

आध्यात्मिक जागरण के उपाय

स्वामी यतीश्वरानन्द

(श्रीमत् स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ और मिशन के उपाध्यक्ष थे। उन्होंने बेगमपेट, हैदराबाद स्थित श्रीरामकृष्ण मठ में १३ अक्तूबर, १९६३ को एक वार्ता दी थी। प्रस्तुत लेख मूल अंग्रेजी में उसी के आधार पर तैयार किया गया और 'वेदान्त-केसरी' के अगस्त १९६५ अंक में प्रकाशित किया गया। हिन्दी पाठकों के लाभार्थ यह अनुवाद प्रस्तुत है।)

भगवान् श्रीरामकृष्ण के महान् शिष्यों के चरणों-तले बैठकर हमें जिस धर्म की शिक्षा मिली उसने सिखाया कि हम आत्म-केन्द्रित न बनें बल्कि नर में नारायण की सेवा के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें। स्वामी विवेकानन्द के कतिपय शब्द सदैव के लिए मेरे मानसपटल पर अंकित हो गये हैं। उन्होंने अमेरिका से लिखा था--'पहले हम स्वयं देवता बनें और तब दूसरों को देवता बनने में सहायता दें।' अमेरिका से लौटने पर मद्रास में उन्हें जो अभिनन्दन-पत्र दिया गया था, उसके उत्तर में भी उनके अन्तिम वाक्य ठीक यही थे। उन्होंने हमारे समक्ष इसी भाव को किंचित् भिन्न प्रकार से रखा था। उनका मन्तव्य था कि हममें से हर व्यक्ति अपना जीवन इस प्रकार बिताये कि वह समस्त बन्धनों से मुक्त होकर आध्यात्मिक अनुभूति कर ले। यही नहीं, बल्कि साथ ही हम दूसरों

का कल्याण करने में भी समर्थ हों। लक्ष्य है—अपने हृदय के अन्तरतम प्रदेश में परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना और साथ ही उस परमात्मा को इस संसार की समस्त वस्तुओं में अभिव्यक्त देखना। स्वामी विवेकानन्द की एवंविध अनुभूति के फलस्वरूप आज हम रामकृष्ण संघ के बहुमुखी सेवाकार्यों को देख रहे हैं। चिकित्सा, शिक्षा, प्रकाशन और प्रचार के क्षेत्रों में संघ सेवाकार्य में रत है। लक्ष्य है—दूसरों में स्थित उसी प्रभु की सेवा करना। जैसे हम स्वयं मुक्त होने के लिए प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार हमें दूसरों को भी मुक्त होने में सहायता करनी चाहिये।

वार्ता प्रारम्भ करने से पूर्व मैं 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' में से कुछ पढ़कर सुनाना चाहूँगा—

एक भक्त—"महाराज, क्या गुरु बनाना आवश्यक है?"

श्रीरामकृष्ण—"हाँ, कई लोगों को गुरु की आवश्यकता होती है। पर मनुष्य को गुरु की बातों में श्रद्धा होनी चाहिए...।

"सतत ईश्वर का नाम-स्मरण चलना चाहिए। कलियुग में नाम-स्मरण एक अमोघ साधन है। आज के युग में योग का अभ्यास कठिन है क्योंकि मनुष्य के प्राण अन्नगत हैं। भगवान् का नाम लेते समय तालियाँ बजाओ, तुम्हारा पाप-पक्षी उड़ जायगा।

"सदैव साधुजनों का संग करना चाहिए। जैसे जसे गंगा के समीप जाओगे, हवा अधिक ठंडी लगेगी। फिर, आग के जितने निकट जाओगे, हवा उतनी गर्म लगेगी।

"आलस्य और प्रमाद से कुछ भी हाथ नहीं लगता। जो सांसारिक भोगों की कामना करते हैं वे आध्यात्मिक उन्नति की बात आने पर कहते हैं--'अरे, वह तो समय की बात है। कभी न कभी हम भी ईश्वर का दर्शन कर लेंगे।'

"कहा है कि कलियुग में यदि मनुष्य एक दिन और एक रात भगवान् के लिए रो ले, तो उसे उनके दर्शन होते हैं।

" ईश्वर पर अभिमान करो और उनसे कहो, 'तुमने मुझको पैदा किया है। अब तुम मुझे दर्शन दो। तुम चाहे संसार में रहो या अन्यत्र, सदैव मन को भगवान् में लगाये रखो।

"बढ़े चलो। लकड़हारा, साधू की बात मानकर, जंगल में आगे बढ़ता गया और उसे चन्दन का जंगल मिला, फिर चाँदी की खदान मिली, फिर सोने की। और भी आगे बढ़ने पर उसे हीरे तथा अन्य कीमती पत्थरों की खान मिल गयी।

'अज्ञानी जन मानो मिट्टी के मकान में रहनेवाले लोगों के समान हैं। अन्दर बहुत कम प्रकाश जा पाता है और वे बाहर की कोई भी चीज नहीं देख पाते। परन्तु जो लोग ईश्वर का दर्शन करके संसार में रहते हैं, वे मानो कांच के मकान में रहनेवाले लोगों के समान हैं। उनके लिए भीतर और बाहर दोनों जगह प्रकाश है। वे बाहर की भी चीजें देख सकते हैं और भीतर की भी।

"उस एक को छोड़कर और कुछ भी नहीं है। वही परम ब्रह्म है।"

हम बढ़ क्यों नहीं पाते

संसार की बातों के ही समान, आध्यात्मिक बातों में भी उन्नति करने के लिए हमें नियमित और क्रम-

बद्ध अभ्यास की आवश्यकता होती है। अध्यात्म के रास्ते आगे बढ़ने के लिए अनुकूल मानसिक प्रवृत्ति अनिवार्य है। इसके लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए। शायद तुममें से अनेकों ने साधु दुर्गाचरण नाग के बारे में सुना होगा। ये श्रीरामकृष्ण के एक पहुँचे हुए शिष्य थे और नाग महाशय के नाम से परिचित थे। उनके पिता की उनपर बड़ी आसक्ति थी, तथापि वे वृद्ध जप बहुत किया करते थे। एक दिन जब नाग महाशय से कहा गया कि "आपके पिता बड़े भक्त हैं", तो उन्होंने उत्तर देते हुए कहा, "पर उससे क्या लाभ ? वे तो मुझ पर बड़े आसक्त हैं। लंगर डाली हुई नाव आगे नहीं बढ़ पाती !"

एक कथा है। एक चाँदनी रात में कुछ शराबियों ने नौका-सैर की सोची। वे घाट पर पहुँचे, एक नाव किराये पर ली और हाथों में पतवार थाम, नौका को खेने लगे। वे सारी रात नाव खेते रहे। सुबह जब शराब का नशा उतरा, उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा कि वे रत्ती भर भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं! आपस में कहने लगे, "क्या बात है ? क्या हो गया ?" असल बात यह थी कि वे लंगर उठाना ही भूल गए थे !

मैं लोगों से हरदम शिकायत सुना-करता हूँ कि हम आध्यात्मिक साधना तो करते हैं पर कोई प्रगति नहीं हो पा रही है। उत्तर यह है कि क्या आध्यात्मिक साधना के समय तुम अपने मन को, थोड़ी मात्रा में ही

सही, सांसारिक विषयों से हटाकर भगवान् में लगा ले सकते हो ? बस यही बात है। हमें सभी पथों का अभ्यास होना चाहिए। तुममें से कुछ लोगों ने ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और राजयोग पर स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों को पढ़ा होगा। साधक किसी भी रास्ते से क्यों न जाए, उसे अपने आपको अनुशासित करना पड़ता है, अपने मन को उचित मोड़ देना पड़ता है और अनुकूल मानसिक प्रवृत्ति तैयार करनी पड़ती है। यदि मन अनुशासित हुआ और मानसिक प्रवृत्ति तैयार हुई तो साधक बड़ी सरलतापूर्वक अपनी आध्यात्मिक साधनाएँ करने में समर्थ होता है। मुश्किल यह है कि सांसारिक बातों में भले हम कुशलता प्रदर्शित करें पर आध्यात्मिक क्षेत्र में हम निरे बच्चे के समान होते हैं। मैंने वयस्क लोगों को और उच्च अधिकारियों को बच्चों के समान बातें करते देखा है। अतः आवश्यक यह है कि हमारा भीतर का व्यक्तित्व गठित हो। हम सब व्यक्ति तो हैं पर हममें से अनेकों के व्यक्तित्व नहीं होता। यम-नियम के अभ्यास के द्वारा, कर्तव्यों के पालन से तथा नियमित उपासना के द्वारा आध्यात्मिक व्यक्तित्व का गठन करना चाहिए। तभी हमारी आध्यात्मिक साधना फलवती होती है। तब हमारी प्रार्थनाएँ और ध्यान-उपासना हमारे महान् आनन्द का कारण बनती हैं। मैं पुनः कहता हूँ कि किसी भी पथ से क्यों न जाओ, किसी भी योग का सहारा क्यों

न लो, अनुशासन आवश्यक है। यदि मैं कर्मयोग का अनुसरण करता हूँ तो अपने मन को अपेक्षाकृत शान्त रखना होगा, सांसारिक बातों से और अपने कर्मों के फलों से अपने आपको असंग रखने का प्रयत्न करना होगा, कर्मों को भगवत्समर्पित बुद्धि से करना होगा। यदि मैं भक्तियोग का अनुसरण करता हूँ तो ईश्वर के लिए मुझमें बड़ी व्याकुलता होनी चाहिए। एक ऐसी आध्यात्मिक भूख उठनी चाहिए जिसे संसार की कोई चीज शान्त न कर सके। प्रार्थना, जप, ध्यान और भगवत्संस्पर्श के द्वारा साधक अपनी इस आध्यात्मिक भूख को मिटाता है और आत्मसाक्षात्कार में परमशान्ति और परमानन्द का अनुभव करता है। बहुत से लोग ज्ञानयोग का अनुसरण करना चाहते हैं परन्तु उन्हें मालूम होना चाहिए कि इस पथ में मन को इस प्रकार शिक्षा देनी पड़ती है जिससे वह आत्मविश्लेषण करता हुआ कह सके—"मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ, मैं अहंतत्व नहीं हूँ, न ही मैं इन्द्रियाँ हूँ; मैं तो आत्मा हूँ।" ज्ञानयोग के शिक्षक हमें बताते हैं कि ज्ञानपथ के पथिक को भोगों के प्रति पूर्ण वैराग्य होना चाहिए, परलोक के प्रति उसे अरुचि होनी चाहिए और उसमें नित्य और अनित्य में विवेक करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। उसे शम और दम सम्पन्न होना चाहिए। परमात्मा के प्रति उसे अगाध श्रद्धा होनी चाहिए और उसे मन की एकाग्रता के अभ्यास में

समर्थ होना चाहिए।

एकाग्रता कब उपयोगी होती है

एक बात हम ध्यान रखें। बहुत से लोग कहते हैं, "मैं मन को एकाग्र करने में समर्थ नहीं हूँ।" उन व्यक्तियों से जिनके मन उतने पवित्र नहीं हैं, मैं कहा करता हूँ, "यह अच्छा है कि तुम्हारा मन एकाग्र नहीं होता।" यदि अशुद्ध मन एकाग्र हो जाए तो वह बम के समान विस्फोटक हो जाता है। तुमने देखा नहीं कि जब तुम क्रोधित होते हो अथवा ईर्ष्या और घृणा से भर जाते हो, तो तुम्हारा मन एकाग्र हो जाता है? पर ऐसी एकाग्रता कोई अच्छी नहीं। वह तो वस्तुतः भयानक है। अतएव आध्यात्मिक अनुशासन आवश्यक है। योग के रास्ते में पतंजलि यम और नियम की बात कहते हैं। यथाशक्ति इनका अभ्यास करना चाहिए। आध्यात्मिक जीवन में स्थिति सहसा नहीं हो पाती है।

यम का मतलब है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यम के साथ हमें नियम का भी पालन करना पड़ता है। नियम का तात्पर्य प्रमुख रूप से शौच और संतोष है। देह और मन की शुद्धि को शौच कहते हैं। यदि मनुष्य सदैव कुढ़ता रहे और शिकायत करता रहे तो क्या ऐसा मन लेकर वह इस संसार में कोई काम कर सकता है? आध्यात्मिक क्षेत्र की बात तो जाने ही दें!

तपः- जीवन में कुछ कठोरता अवश्य होनी चाहिए। आध्यात्मिक साधनाओं में कठोरता के अभाव के कारण प्रत्येक पीढ़ी अपने मे पहले की पीढ़ी से अधिक कोमल होनी जा रही है। ऐसे कोमल व्यक्तियों के द्वारा कुछ भा हासिल नहीं किया जा सकता।

स्वाध्यायः- हम पुस्तकें पढ़ते हैं। पर क्या हमारे दिमाग में कुछ घुसता है! हम कोई भाषण सुनते हैं और कहते हैं कि बड़ा अद्भुत भाषण हुआ। पर यदि कोई पूछे, तुमने क्या सुना? तो हम कोई बात बता नहीं पाते। शब्द एक कान से घुसते तो हैं पर दूसरे कान से निकल जाते हैं। उनकी धारणा नहीं हो पाती। स्वाध्याय का मतलब होता है, जो कुछ तुमने पढ़ा है उस पर चिन्तन करना, उसे अपना ही अंग बना लेना। पहले 'श्रोतव्यः'- सुनो। तत्पश्चात् 'मन्तव्यः'- मनन करो। यही रास्ता है। जब हम कुछ मात्रा में नैतिक जीवन में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तभी आध्यात्मिक साधनाओं का लाभ हमें मिला करता है।

आसनः- तुम भले ही मूर्ति के समान कई घंटों तक बैठे रहो पर उससे क्या लाभ? कुछ नहीं। कम से कम आध्यात्मिक प्रेरणा होनी चाहिए तभी तुम्हारा आसन में बैठना तुम्हारी साधना में सहायक हो सकता है।

प्राणायामः- प्राणायाम के अभ्यास में तुम अपनी साँस रोकते हो। उससे क्या लाभ मिला? यदि वह

केवल एक भौतिक घटना है, तब तो फुटबाल का ब्लैडर भी एक महान् योगी हो सकता है। तुम्हें प्राणायाम से मिलता क्या है ? सच देखा जाए तो कुछ नहीं। पर जब मन अनुशासित होता है, जब उसमें आध्यात्मिक प्रवृत्ति जगती है, तब प्राणायाम चेतना के उच्चतर स्तर में उठने में सहायक होता है।

प्रत्याहार:– इसका मतलब है असंगता। मन को सभी चीजों से हटा लेना चाहिए। जब तुम किसी काम में लगे हो तो दूसरे सभी विचारों को बलपूर्वक दूर करो और अपने मन को पूरी तरह उस काम में लगा दो। यदि मन को अलग करने का अभ्यास न सधे तो चिन्ताएँ आ घेरती हैं। सोते समय यदि तुम बहुत सी बातों को सोचने लगो तो तुम्हें नींद नहीं आएगी, तुम अनिद्रा से पीड़ित होगे और बीमार हो जाओगे। मन को इस प्रकार अनुशासित करना है कि वह इच्छा मात्र से अपने आप को सब चीजों से अलग कर ले।

ध्यान करने की इच्छा होने पर तुम्हें क्या करना चाहिए ? संसार की चीजों से अपने मन को जितना बन सके उतना हटा लो; यहाँ तक कि अपने भीतर जो चित्र बनते हैं, जो विचार उठते हैं और जो संवेदनाएँ होती हैं उनसे भी मन को दूर कर लो। परन्तु दूर करने का मतलब मन की शून्यता न हो। शून्य मन निद्रा से पीड़ित हो जाता है। पूरी तरह जागते रहो। भगवान् का नाम लो और उनपर ध्यान करो। इससे निद्रा का

भय नहीं रहेगा और मन उच्चतर अवस्था में चला जाएगा।

धारणा:- किसी भी भगवत्-प्रसंग में मन को लगा देना धारणा कहलाता है।

ध्यान:- मन को किसी मंत्र अथवा दिव्य रूप पर स्थापित करो। यह ध्यान में पहुँचने की सीढ़ी है। ध्यान की अवस्था में साधक ईश्वरीय चेतना में डूब जाता है और इससे वह उच्चतर अतीन्द्रिय अवस्था को प्राप्त करता है।

आगे बढ़ने के पहले हम अपने आपसे एक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछें। हम शरीर के साथ अपने आपको एकरूप समझते हैं और सोचते हैं कि हम पुरुष हैं अथवा नारी। हम किसी पुरुष या नारी देवमूर्ति की उपासना करते हैं। हमारा आध्यात्मिक जीवन इसी प्रकार शुरू होता है और उसका अन्त भी उसी प्रकार हो जाता है। इससे हमें क्या मिलता है? आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ से ही हमें इसकी प्रतीति होनी चाहिए कि हम आत्मा हैं। यह आत्मा अहंकार, मन, इन्द्रियों और शरीर के द्वारा सीमाबद्ध हो गया है। इस आत्मा को मुक्त करना है।

ईश्वर की उपासना

तो फिर ईश्वर की उपासना क्या है? ईश्वर से तुम क्या समझते हो? यूरोप में एक भक्त ने मुझसे कहा, "स्वामीजी, 'गॉड' शब्द का उच्चारण न कीजिए।

उससे बचपन की धारणा मन के सामने आती है कि 'गॉड' बादलों के उस पार आसमान में रहता है और जो उसके नियमों को तोड़ते हैं उन्हें वह दंड देता है। मुझे यह कल्पना सह्य नहीं।" इसपर मैंने कहा, "ठीक है, ईश्वर शब्द का उपयोग कर लो। मैं ब्रह्मन् शब्द का उपयोग करता हूँ।"

यदि हम ईश्वर की उपासना करना चाहते हैं तो उसका सामीप्य अनुभव करना चाहिए। एक तरह से वे ही स्रष्टा हैं, पालक हैं और संहारक हैं। वे चीजों को वापस अपने पास बुला लेते हैं और इसी को हम संहार कहते हैं! ईश्वर केवल इतने ही नहीं हैं बल्कि उससे भी कहीं अधिक वे हमारी आत्मा की आत्मा हैं, हमारे सबसे समीप हैं और प्रियतम हैं। वे हमारे पास माता और पिता के रूप में आते हैं। वे गुरु और इष्ट देवता के भी रूप में हमारे पास आते हैं। द्वैत वेदान्त की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा नित्यसंबद्ध हैं, वे दोनों नित्य युक्त हैं; किन्तु मन की अशुद्धता के कारण हम परमात्मा को छोड़कर उनकी सृष्टि में आसक्त हो जाते हैं। साधारण धार्मिक जनों के आचरण को देखकर पश्चिम के एक महान् मनोवैज्ञानिक ने एक समय कहा था, "लोग ईश्वर को नहीं चाहते। वे ईश्वर का उपयोग करना चाहते हैं!" वे ईश्वर से इसलिए प्रार्थना करते हैं कि वह उनकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण कर दे। और यदि ईश्वर वह सब पूर्ण न करे तो कुछ लोग नास्तिक

बन जाते हैं और कहने लगते हैं, "ईश्वर-फीश्वर कुछ नहीं है। यदि वह है भी, तो बहरा है, अंधा है, वह किसी की नहीं सुनता।" ऐसी बचकानी बात अच्छी नहीं। तुम केवल ऐसा ईश्वर चाहते हो जो तुम्हारा भला करे। क्या ईश्वर को इसके सिवाय और कोई काम नहीं है?

तुम लोग जानते हो कि भगवान् श्रीरामकृष्ण ने उस परमतत्व की उपासना सर्वप्रथम काली के रूप में की। काली विश्व-प्रक्रिया की एक प्रतीक है। वह जगन्माता एक हाथ से सृजन कर रही है तो दूसरे हाथ से पालन कर रही है; उसका तीसरा हाथ विनाश कर रहा है तो चौथे हाथ में वह कटे मुण्ड को पकड़े है। उपनिषद् के एक ऋषि ने जो कहा है, काली उसी की प्रतीक है। शिष्य ने अपने पिता से पूछा, "अधीहि भगवो ब्रह्मेति-भगवन्, मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए।" पिता ने उत्तर दिया, "ब्रह्म वह है जिससे समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमें सबकी स्थिति होती है और जिसमें अंत में सबका लय हो जाता है।" भक्तिशास्त्रों में हम उसे ईश्वर कहते हैं और वेदांत उसे सच्चिदानंद कहकर पुकारता है। वह सत्स्वरूप है, चित्स्वरूप है, आनंदस्वरूप है। वह हमारे भीतर निवास करता है और हमारी आत्मा की आत्मा है। फिर, हम सब उसी में निवास करते हैं। हमें उसके सामीप्य का अनुभव करना चाहिए। यदि हम ऐसा अनुभव न कर सकें तो

हमें यह भाव जगाना चाहिए कि वह हमारा सगे से सगा है, अपनों से अपना है। इस भाव की पूर्णता में कौन सी बात आड़े आती है? हमारी अपनी कामनाएँ। वे ही इस आध्यात्मिक सजगता में रोड़े का काम करती हैं। अतएव हमें अपने मन को शुद्ध करना चाहिए।

यहाँ पर एक बड़ी समस्या हमारे सामने आती है। अशुद्ध मन ही संसार की चीजों के पीछे दौड़ा करता है। शुद्ध मन ईश्वर की महिमा को प्रतिबिम्बित करता है, ईश्वर पर ध्यान करता है, ईश्वर की ओर जाता है और उसके दिव्य संस्पर्श, प्रेम और आनंद का स्वाद पाना चाहता है। तो इस मन को शुद्ध कैसे किया जाए? सर्वप्रथम, बुरे कर्मों से अपने आपको यथासंभव दूर रखो। अच्छे विचार सोचो, अच्छी भावनाएँ उठाओ और अच्छे कर्म करो। यह पहली सीढ़ी है। हमें हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हम आत्मा हैं। इस आत्मा ने मनुष्य का चोला पहिन रखा है जिससे जीवन के इस विश्व-अभिनय में अपनी भूमिका अदा कर सके। हमें जो भी भूमिका मिले, उसे अच्छी तरह निभाना चाहिए। तात्पर्य यह कि हमें जीवन के कर्तव्य-कर्मों को असंग भाव से, ईश्वरार्पण करते हुए, करना चाहिए। किन्तु यह हम जान लें कि कर्तव्यों के पालन और नैतिक अभ्यास मात्र से मन शुद्ध नहीं होने का। हमें ईश्वर पर ध्यान करना होगा; उससे प्रार्थना करनी होगी क्योंकि वही पवित्रता ज्ञान, भक्ति, करुणा, प्रेम और आनंद का अनंत उत्स है।

यहाँ पर प्रश्न खड़ा होता है कि ईश्वर की उपासना कैसे करें, उससे प्रार्थना किस प्रकार की जाए ? ईश्वर की धारणा बड़ी व्यापक है। मैं उदाहरण देता हूँ, हम लोग मानो क्षुद्र बुलबुले के समान हैं। बुलबुले के लिए समुद्र की धारणा करना बहुत बड़ी बात है। तो हम क्या करें ? हम बड़ी बड़ी लहरें भी देखते हैं। हम लहरों की तरफ जाएँ और उनसे अपने आप को युक्त कर लें। हम देखेंगे कि समय में हमें समुद्र की धारणा हो जाती है। ठीक इसी प्रकार, हम अपनी आध्यात्मिक यात्रा अपने इष्टदेवता रूपी एक ऐसी ही पर्वतकाय तरंग से प्रारंभ करते हैं, हम उस इष्ट की उपासना करते हैं, उससे प्रार्थना करते हैं और इस प्रकार हम धीरे-धीरे जीवन और सत्य की उच्चतर धारणा करने में समर्थ होते हैं। इष्टदेवता हमसे कहते हैं, "देखो, भले ही मैं एक बड़ी तरंग होऊँ और तुम एक छोटा सा बुलबुला; पर हम सबके पीछे वही अनन्त समुद्र विराजमान है।" जब समय परिपक्व होता है तब इष्ट देवता परम सत्य को हमारे समक्ष प्रकट कर देते हैं।

क्या गुरु अनिवार्य है

'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में पढ़ते हुए हम देखते हैं, एक भक्त पूछ रहा है, "महाराज, क्या गुरु बनाना आवश्यक है ?" श्रीरामकृष्ण उत्तर देते हुए कहते हैं कि "हाँ, बहुत से लोगों के लिए वह आवश्यक है। पर ऐसे भी कुछ बिरले पहुँचे हुए लोग होते हैं जो जन्म से ही दैवी

चेतना लेकर आते हैं और बचपन से ही दिव्य संस्पर्श का अनुभव करते हैं। ऐसे लोगों को गुरु की आवश्यकता नहीं होती, पर दूसरे लोगों को तो होती है।" एक बार किसी भक्त ने स्वामी ब्रह्मानंदजी से पूछा, "महाराज, क्या गुरु आवश्यक है?" स्वामीजी मुस्कराए और बोले, "मेरे बच्चे, यदि तुम चोर होना चाहते हो तो भी सिखाने वाले की आवश्यकता होती है। तब फिर जब तुम उस उच्चतर सत्य को जानना चाहते हो तो शिक्षक की आवश्यकता कितनी अधिक न होगी!" तुम लोगों ने जेबकतरों का झुंड देखा होगा। उन्हें भी कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता है, कड़ी शिक्षा लेनी पड़ती है, तब कहीं वे कुशल जेबकतरे हो पाते हैं।

इस संदर्भ में एक कहानी बताता हूँ। प्रख्यात नाटककार और अभिनेता गिरीशचंद्र घोष श्रीरामकृष्ण के बड़े भक्तों में से थे। बुढ़ापे में वे होमियोपैथी का अभ्यास करने लगे। ठाकुरजी का नाम लेकर वे दवा दे देते। उन्हें इस चिकित्साकार्य में बड़ी सफलता मिली। एक दिन उनके पास एक वृद्ध और बड़े संभ्रान्त दीखने वाले व्यक्ति बैठे थे। इतने में एक युवक उनके पास आया और बोला, "महाशय, मैंने अपनी हाथ-घड़ी रास्ते में कहीं खो दी है।" जो वृद्ध बैठे थे वे युवक की बात सुनकर सतर्क हो गए और पूछने लगे, "यह कितने बजे और कहाँ पर की बात होगी?" युवक बोला, "जी, मैंने इतने बजे अमुक अमुक स्थान पर वह घड़ी गुमाई।"

इस पर वह वृद्ध व्यक्ति बोला, "घड़ी तुम्हें वापस मिल जाएगी।" वह व्यक्ति इस प्रकार भरोसा कैसे दे सका? कारण यह है कि वह संभ्रान्त-सा दीखने वाला व्यक्ति जेबकतरों का एक नेता था!

एक दूसरा उदाहरण लो। तुम ज्योतिष सीखना चाहते हो। तुम एक पुस्तक लेते हो और उसे समझना चाहते हो, पर उससे तुम्हें कुछ विशेष मिल नहीं पाता! किन्तु ज्योतिषी एक आश्चर्यजनक बात कहता है। तुम रोज सूर्य को उगते और अस्त होते देखते हो पर ज्योतिषी आकर कहता है कि सूर्य न तो कभी उगता है, न कभी उसका अस्त होता है; यह दिखना तो केवल पृथ्वी की गति के कारण होता है। यदि हम अपनी इन्द्रियों के द्वारा मिली जानकारी पर विश्वास करें तो हम ज्योतिषी की बात को अनसुनी कर देते हैं। पर यदि इन्द्रियों पर हमारा ऐसा विश्वास न हो तो हम ज्योतिषी के पास जाते हैं, उसके पास रहकर अध्ययन करते हैं, प्रयोग करते हैं और तब इसकी धारणा करते हैं कि सचमुच जो कुछ हमने देखा था वह भ्रम था; सत्य तो यह है कि सूर्य कभी नहीं चलता, पृथ्वी चलती है।

आध्यात्मिक शिक्षक भी इसी प्रकार आश्चर्यजनक बात कहता है। हम सभी को अपनी देह का बोध होता है और हम अपने को नर या नारी समझते हैं, परन्तु अध्यात्म की शिक्षा देने वाला गुरु कहता है कि हम शरीर, मन और अहंकार से भिन्न आत्मा हैं।

हो सकता है कि बहुतों के समान तुम भी सोचो कि ऐसा कहने वाला व्यक्ति ठग है। भगवान् तुम पर कृपा करे! यदि तुममें ऐसा संशय उठा कि 'क्या मैं मांस का लोंदा मात्र हूँ? मलमूत्र का ढेर हूँ? अथवा मेरे भीतर ऐसा कुछ है जो सचमुच जीवित है?'– तो तुम्हारा आध्यात्मिक जीवन शुरू हो जाता है। मैं ऐसे शिक्षक के पास जाता हूँ जो जीवन भर अध्यात्म के रास्ते चलते रहे हैं, जो आध्यात्मिक दृष्टि से प्रबुद्ध हो गए हैं, जिनके हृदय में अपार स्नेह और सहानुभूति है, दया और करुणा है। मैं उनके चरणों तले बैठता हूँ, उनसे साधना की बातें सीखता हूँ और नियमित रूप से साधना करता हूँ। जैसे जैसे मेरा मन शुद्ध होता है, मैं आत्मा के क्षेत्र में प्रवेश करता हूँ और मेरा इष्ट देवता जाग्रत् हो जाता है। मैं अपने भीतर एक ऐसी सत्ता का अनुभव करता हूँ जो मुझमें और सबमें ओतप्रोत होकर विद्यमान है।

तुम्हें एक कहानी बताऊँ। उपनिषद् में एक स्थान पर नारद और सनत्कुमार का संवाद आता है। संतजन जन्म से ही पूर्ण नहीं हुआ करते, वे धीरे-धीरे अपनी पूर्णता को प्रकट करते हैं। साधना के द्वारा वे अपनी निहित शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं। ऋषि और मुनि आकाश से नहीं टपका करते। एक समय था जब नारद भी विद्यार्थी थे। उन्होंने सब प्रकार की विद्याएँ पढ़ीं, सारे शास्त्र पढ़े, विभिन्न विज्ञानों और कलाओं को

सीखा। पर यह सब सीखने के बाद भी उन्हें एक विशेष अभाव का बोध होने लगा। उन्होंने बहुत कुछ जाना था पर वे अपने आप से अजान थे। हम बाहर की दुनिया की बातें पढ़कर और जानकर तृप्ति का अनुभव करते हैं पर हम अपने आपको जानना भूल जाते हैं, यह बड़ी गलत बात है। पश्चिम के एक बड़े भौतिक शास्त्री ने कहा है, "जिसके लिए सत्य का मतलब होता है उसे सत्ता की श्रेणी में अवश्य स्थान मिलना चाहिए, भले ही सत्ता की परिभाषा कैसी भी क्यों न की जाए।" द्रष्टा के बारे में यानी अपने आप के बारे कुछ जाना न गया तो शिक्षा अपूर्ण है। हमारा संसार ऐसे अर्ध शिक्षितों से भरा पड़ा है जो अपने आप को नहीं जानते, जो उच्चतर सत्ता के संबंध में कुछ भी नहीं जानते फिर भी अपने को संसार का गुरु और मुक्तिदाता समझते हैं! ऐसे लोग संसार को नष्ट करने पर तुले हैं। हाँ, तो मैं कह रहा था कि सब कुछ जानने के बाद भी नारद को ऐसा अनुभव हुआ कि मैं आत्मवित् नहीं हूँ। उन्हें बड़ी व्यथा हुई। वे सनत्कुमार से कहने लगे, 'भगवन्, मैं अपने आप को नहीं जानता इसीलिए शोक कर रहा हूँ। इस शोक को दूर कर दीजिए। मुझे शोक के उस पार ले चलिए। मुझे शांति दीजिए।" सनत्कुमार परम अनुकंपा पूर्वक नारद की बातों को सुनते रहे और धीरे-धीरे नारद को मन के सूक्ष्म राज्य में ऊपर उठाते रहे। अंत में उन्होंने नारद के समक्ष इस सत्य की घोषणा की– "यो वै भूमा

तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति —जो अनंत है, भूमा है, वही आनंद है; सान्त में अथवा अल्प में आनंद नहीं है।"

मन को शुद्ध कैसे करें ?

हमारी आत्मा अनंत आनंद, अनंत प्यार और अनंत सुख की भूखी है। पर मुश्किल यह है कि हम उसे सीमित वस्तुओं में ढूँढ़ते हैं और असफल होने पर हताश हो जाते हैं। सनत्कुमार कहते हैं, "यदि तुम सचमुच का आनंद चाहते हो, असीम आनंद की इच्छा रखते हो तो तुम्हें भूमा की प्राप्ति करनी होगी।" तो प्रश्न उठा-- यह भूमा है क्या ? भूमा वह है जो सर्वत्र है- ऊपर, नीचे, दायें और बायें सर्वत्र। वहाँ पहुँचा कैसे जाए ? सनत्कुमार संक्षेप में आध्यात्मिक साधनाओं का निदर्शन करते हुए कहते हैं- "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।"–अर्थात् आहार को शुद्ध होना चाहिए। आहार के शुद्ध होने पर हमारा स्वभाव शुद्ध होता है और स्वभाव के शुद्ध होने से मन शुद्ध होता है। मन के शुद्ध होने पर हमें अपने आध्यात्मिक स्वभाव की स्मृति होती है। धीरे-धीरे हम आध्यात्मिक भाव में स्थित हो जाते हैं और उसीको मुक्ति कहते हैं। आत्मचेतना का अवतरण अथवा उस परमात्मा का साक्षात्कार ही मुक्ति कहलाता है। वह स्थिति प्राप्त होने पर साधक उस अनंत आत्मा से अपने आपको एकरूप अनुभव करता है और उसके सारे बंधन छिन्न हो जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि

आहार का अर्थ क्या है ? जो कुछ भी हम ग्रहण करते हैं उसे आहार कहते हैं। उसका अर्थ क्या शुद्ध भोजन होता है ? शुद्ध सात्त्विक भोजन ? शुद्ध शाकाहारी भोजन ? इस सबसे कितनी सहायता मिलती है ? थोड़ी बहुत अवश्य; पर जब तक तुम मन को शुद्ध करना नहीं जानते तब तक कुछ नहीं हो पाता। बहुत से ऐसे दुष्ट लोग हैं जो पूरी तरह शाकाहारी हैं। इन शाकाहारियों से भगवान् ही बचाए ! जहरीले साँप को भले ही निखालिस से निखालिस दूध पिलाओ पर वह उससे विष ही बनाएगा। अतः अपने जहरीले स्वभाव को किसी प्रकार दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। शंकराचार्य कहते हैं, "ठीक है, तुम शुद्ध भोजन ग्रहण करो; पर वह केवल शरीर के पोषण के लिए है। जो आहार तुम आँखों से, कानों से, इन्द्रियों से और मन से ग्रहण करते हो वह सब भी शुद्ध होना चाहिए, तब तुम्हारा स्वभाव शुद्ध होता है, तुम्हारा सूक्ष्म शरीर पवित्र होता है और तब आध्यात्मिक आलोक प्राप्त होता है।"

तुममें से किसी-किसी ने जापानी बंदरों की त्रिमूर्ति को देखा होगा। एक बंदर दोनों कानों को बंद किए हुए है, दूसरा दोनों आँखों को और तीसरा मुँह को। यूरोप में रहते समय जब मैं स्विट्ज़रलैण्ड में भ्रमण कर रहा था तो झील के तट पर मैंने एक शिला पर उत्कीर्ण कारीगरी देखी। जिनेवा इसी झीलके किनारे बसा

हुआ है। उस कारीगरी में भी मैंने तीन बंदरों के चित्र देखे, पर इसमें थोड़ा सा अंतर था। वह यह कि उनमें से एक ने केवल एक आँख बंद की थी, दूसरे ने केवल एक कान बंद किया था और तीसरे ने आधा मुँह बंद रखा था। मैं थोड़ी देर के लिए अचरज में पड़ गया, सोचने लगा--इसका क्या मतलब? इतने में एक विचार मन में कौंध गया। मैंने समझा कि मतलब यह है-"बुरा मत देखो, पर भला देखो। बुरा मत सुनो, पर भला सुनो। बुरा मत कहो, पर भला कहो।" पहले मैंने सोचा कि यह एक मौलिक कल्पना है। बाद में मुझे उपनिषदों का ध्यान आया जहाँ एक जगह शान्तिपाठ में कहा है---ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः, स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः।-अर्थात् जो भद्र है, भला है,उसे देखें। जो भद्र है उसे सुनें। उस परमेश्वर की महिमा के गीत गाएँ। हमें यही करना है। यदि तुम ऐसा करो तो मन शुद्ध होता है। अपनी वाणी का सबसे अच्छा उपयोग करो। भयंकर बातें कहकर उसका दुरुपयोग न करो। भगवान् का जो भी नाम तुम्हें अच्छा लगता हो उसका नियमित रूप से जाप करो। ईश्वर का जो भी रूप रुचता हो उसपर भक्तिपूर्वक ध्यान करो। देखोगे, मन धीरे-धीरे पवित्र हो रहा है। भगवान् का नाम और उनका रूप हमें ऊपर उठाता है। आगे चलकर तुम्हें इष्टदेवता की, उस सर्वव्यापी आत्मा की भी झलक मिल

सकती है।

जप क्या है ? ध्यान कहाँ करें ?

उस सर्वव्यापी आत्मा तक हम कैसे पहुँचें ? हमें ऐसे रास्ते से चलना चाहिए जो हमें क्रमशः उठाता हुआ वहाँ तक पहुँचा दे। मैं हिमाच्छादित गिरिशिखर पर पहुँचना चाहता हूँ, तो क्या कूदकर एकदम से वहाँ पहुँच जाऊँगा ? स्वामी ब्रह्मानन्दजी Spiritual Teachings नामक अपनी पुस्तक में कहते हैं, "तुम छत पर पहुँचना चाहते हो तो क्या एकदम से कूदकर पहुँच जाते हो ? नहीं। यदि तुम ऐसा करते हो तो गिर जाओगे और अपनी टाँगों को तोड़ लोगे। सीढ़ियों से होकर ऊपर जाओ।" ऊपर उठने के साधनों में जप सबसे अधिक प्रभावशाली है। पर ध्यान रखो, तोते के सामान रटते हुए जप नहीं करना है बल्कि "तज्जपस्तदर्थभावनम्।" ईश्वर के नाम के उच्चारण के साथ-साथ अर्थभावना भी करनी चाहिए। यह अर्थभावना क्या है ? अर्थ पर मनन करना। सर्वप्रथम हम इष्टदेवता के जाज्वल्यमान, आनन्दमय रूप का चितन करें। उसके बाद उसकी भावना अनंत पवित्रता, अनंत ज्ञान, अनंत भक्ति और करुणा, अनंत प्रेम और आनंद के रूप में करें। तदनन्तर सोचें कि वे सर्वान्तरयामी, सर्वानुस्यूत परमात्मा से भिन्न नहीं हैं।

हमसे कहा जाता है कि हम हृदयकमल में ध्यान करें। यह हृदयकमल है कहाँ ? शरीरशास्त्र जिसे

हृदय मानता है, क्या वही हृदय है ? वहाँ तो कुछ भी नहीं किया जा सकता। वास्तव में हृदय से तात्पर्य है वह चेतना जो मेरे शरीर और मन में व्याप्त होकर स्थित है। वह आत्मा की चेतना है, परमात्मा का चैतन्य है, हमें इसी चिदाकाश में ध्यान करना पड़ता है। हम अपने को भक्त मानते हैं और इष्टदेवता को परमात्मा का व्यक्त रूप।

स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमसे कहा करते थे, "जैसे-जैसे तुम साधना में आगे बढ़ोगे, वैसे-वैसे हृदय शब्द का अर्थ समझ सकोगे। पहले तुम उसकी भावना महाकाश यानी बाह्य आकाश के रूप में कर सकते हो; बाद में उसकी भावना सूक्ष्म मनोजगत् के रूप में की जा सकती है।" असल हृदय चिदाकाश में है। वहाँपर जीवात्मा परमात्मा के साथ नित्ययुक्त होकर अवस्थित है। अतः अपने भीतर मनोमय जगत्में इष्टदेवता का ध्यान करना चाहिए।

सामने इष्टदेवता का एक चित्र रख लेना अच्छी बात है। चित्र की ओर टकटकी लगाकर देखो, उसे गौर से देखो। परन्तु इससे अच्छा तो यह होता कि तुम अपने मनोमय जगत् में उस पवित्र रूप को बिठा पाते; क्योंकि तब तुम्हें बाहर की किसी भी चीज पर अवलंबित नहीं होना पड़ता। जब भी इच्छा हो, भीतर हृदयकमल पर विराजमान इष्टदेवता को देखो और उनसे प्रार्थना करो। उनके नाम का जप करो, रूप

का ध्यान करो; धीरे-धीरे मन को रूप से हटाकर उनके गुणों पर लगाओ और उसके बाद उनके अनंत स्वरूप पर। आगे बढ़ने का यही क्रम है।

मैंने कुछ देर पहले पतंजलि के योगसूत्रों में से एक सूत्र उद्धृत किया था—तज्जपस्तदर्थ-भावनम्। यह सूत्र जप करने की प्रणाली बतलाता है। ठीक है, यदि मैं भगवान् के नाम का जप करूँ और उनपर ध्यान करूँ तो मुझे क्या मिलेगा ? गुरु कहते हैं—तदर्थभावना करो, शब्द के अर्थ पर मनन करो। मनन करने से क्या होगा ? बाधाएँ दूर हो जाएँगी और नया आध्यात्मिक भाव पैदा होगा। अतः हमने देखा कि जप और सरल ध्यान की सहायता से विघ्न दूर हो जाते हैं। मनोवैज्ञानिक इस घटना को विलक्षण ढंग से समझाते हैं। हम लोग सतत चिन्ताएँ पैदा कर रहे हैं, बुरे विचारों को जन्म दे रहे हैं। ये कुविचार हमारे शरीर और मन को रोगी बना देते हैं। शुभ विचारों का चिन्तन, शुभ नाम का उच्चारण और प्रभु के शुभ रूप का ध्यान मन को अधिकाधिक स्वस्थ और उदात्त बनाता है। इससे स्वयं के द्वारा पैदा किए गए रोग दूर हो जाते हैं, मन समरस होने लगता है और मन की यह समरसता शरीर पर भी अपना प्रभाव डालती है। अतः भगवान् के नाम के जप से हमारा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का स्वास्थ्य उन्नत होता है। यही भगवान् के नाम की शक्ति है। भगवान् के शुभ

रूप पर ध्यान करने से भीतर की छिपी हुई शक्ति नए आध्यात्मिक भाव के रूप में प्रकट होती है। तब हमें मालूम होता है कि हम क्षुद्र व्यक्ति नहीं हैं बल्कि हम आत्मा हैं और हमारा इष्टदेवता उस परमात्मा से भिन्न नहीं है जो समस्त शान्ति, आनन्द और प्रेम का केन्द्र है। भगवान् के नाम की महिमा ही ऐसी है।

ध्यान क्या है ? हम ध्यान की बात करते हैं। तुम कहते हो कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। तुम किस पर ध्यान करते हो ? किसी बात पर दुश्चिन्ता करते रहना ध्यान नहीं कहलाता। ध्यान तो वह है जब तुम भगवान् के बारे में सोचते हुए उनमें डूब जाते हो। पर यह डूबना एकदम से नहीं सध जाता। इस अवस्था की प्राप्ति में जप सहायक है। उनका नाम लो, उनका चिन्तन करो; इससे मन थोड़ा शांत होता है। धीरे-धीरे नाम की ध्वनि भी बंद हो जाती है और हम उनके ध्यान में मग्न हो जाते हैं। उस अवस्था में इष्टदेवता संसार की अन्य सभी चीज़ों की तुलना में अधिक सत्य हो जाते हैं। फलस्वरूप मन उनमें पूर्णतया निमग्न हो जाता है और हमें उस दैवी सत्ता का, उस दिव्य प्रेम और आनन्द का आस्वाद प्राप्त होता है। ईश्वर पहले हमारे पास इष्टदेवता के रूप में आते हैं और उसके बाद सच्चिदानन्द परमात्मा के रूप में उनकी अनुभूति होती है। नियमित अभ्यास से साधक को ये अवस्थाएँ उपलब्ध होती हैं।

'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' में हम श्रीरामकृष्ण को कहते हुए सुनते हैं—"तुममें व्याकुलता होनी चाहिए।" यह व्याकुलता भूख के समान है। जब लोग मुझसे पूछते हैं कि हम ध्यान क्यों करें तो मैं उत्तर में उनसे कहता हूँ, "हाँ, क्यों करोगे ? मत करो।" किन्तु यदि तुममें व्याकुलता होती तो समझ सकते कि यह आध्यात्मिक भूख कैसी होती है। तब तुम ईश्वर का चिन्तन किये विना नहीं रह सकते, उनके नाम का गान किए बिना नहीं रह सकते। हमें यही आध्यात्मिक भूख जगानी है और जगाकर उस भूख को वनाए रखना है। यह तब संभव होगा जब तुम नियमित रूप से आध्यात्मिक साधनाएँ करोगे। तुम शरीर को तो भौतिक आहार से पुष्ट करते हो और मन को अध्ययन और विचारों से पोषण देते हो. पर तुम्हारी आतमा प्राचुर्य के बीच भूखी रह जाती है। क्या तुम्हें यह भूख महसूस नहीं होती ? जोवात्मा उस परमात्मा के लिए आकुल होता है; वह सच्चिदानन्द की अनुभूति के लिए भूखा है और हम उसकी यह भूख दूर करने का प्रयत्न नहीं करते। यदि हम वैसा करें तो हमारे जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हो जाता है।

श्रीरामकृष्ण ने ऐसे लोगों के संग पर बड़ा जोर दिया है जो आध्यात्मिक पथ के पथिक हैं, जो हमारी आध्यात्मिक दृढ़ता को बढ़ाते हैं और ईश्वरीय महिमा को अपने जीवन में प्रतिफलित करते हैं। आध्यात्मिक

उन्नति के लिए ऐसा सत्संग परमावश्यक है।

ठीक रास्ते से चलो, शुरू से ही प्रारंभ करो

श्रीरामकृष्ण ने एक स्थान पर कहा है, "हमें ठीक रास्ते से चलना चाहिए।" मानलो, मैं कहीं भटक गया। मैं एक गलत रास्ता पकड़ लेता हूँ, तो क्या होता है ? मैं भूलभूलैया में और भी भटक जाता हूँ। यदि मैं सही रास्ते को पकड़ लूँ तो उसमें से निकल आता हूँ। इस प्रसंग में एक अमेरिकन गल्प स्मरण आता है। एक मोटर वाला अत्यंत वेग से गाड़ी चला रहा था। वह कहीं पहुँचना चाहता था। उसने थोड़ा भूगोल पढ़े हुए एक विद्यार्थी से पूछा, "अच्छा बेटे, यदि मैं इस रास्ते जाऊँ तो क्या अमुक जगह पहुँच सकूँगा ?" लड़के ने कहा, "जी हाँ, जरूर पहुँच सकेंगे।" मोटरवाले ने पूछा, "इधर से वह स्थान कितनी दूर पड़ेगा ?" लड़का बोला, "आपको पच्चीस हजार मील का चक्कर लगाना होगा।" "यदि मैं दूसरी ओर से जाऊँ तो ?" "तब तो दो मील ही जाना पड़ेगा।" इसका मर्म समझे ? एक रास्ते से उस स्थान पर जाने के लिए तुम्हें सारे संसार का चक्कर लगाना पड़ेगा और दूसरे रास्ते से जाने पर केवल दो मील का। यदि इसी प्रकार मानसिक प्रवृत्ति अनुकूल हो और समुचित मार्गदर्शन प्राप्त हो तो उन्नति द्रुत हो जाती है, तुम्हारे भीतर एक प्रबल परिवर्तन हो जाता है। परंतु बहुत जल्दबाजी भी न करो। धीरे चलो, पर दृढ़तापूर्वक सही रास्ते से

कदम बढ़ाते चलो । देखोगे, एकदिन तुम उच्चतम सत्य को प्राप्त कर लोगे । पर जैसा मैंने हिमाच्छादित गिरि-शिखर पर चढ़ने का उदाहरण देते हुए कहा था, एक एक करके सीढ़ियाँ तय करो ।

हमारी साधना में पहला स्थान प्रतिमापूजा को है । इसका अर्थ है एक रूप या प्रतीक या चित्र या मूर्ति की सहायता से ईश्वर के किसी विशेष पहलू की उपासना करना । इसके बाद नामजप, भगवच्चिंतन और उनके महिमागान का स्थान आता है । तत्पश्चात् जैसा बता चुका हूँ, जब मन थोड़ा डूबता है तो उनका संस्पर्श प्राप्त होता है । इसी को ध्यान कहते हैं। ध्यान उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति करा देता है । आगे बढ़ने के लिए हमें एक-एक सीढ़ी तय करनी चाहिए । इसीलिए श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "आगे बढ़ो, एक एक कदम आगे बढ़ाओ। चन्दन वन से चाँदी की खदान तक आओ, वहाँ से सोने की खदान तक और सोने की खदान से हीरे की खदान तक ।" इसी प्रकार, यदि हम अध्यात्म के पथ पर निष्ठापूर्वक चलते रहे और एकदम शुरू से चलना प्रारंभ किया, तो हम सत्य को प्राप्त कर लेंगे। किन्तु यदि हम अन्त मे प्रारंभ करें तो कहीं पहुँच नहीं पाएँगे । कुछ लोग अद्वैत की साधना करना चाहते हैं। मैं उनसे कहता हूँ, मैं अद्वैत साधना के संबंध में कुछ नहीं जानता, किसी दूसरे शिक्षक के पास जाओ ।" पर यदि तुम शुरू से प्रारंभ करना चाहो तो मैं तुम्हारी कुछ सहायता कर सकता हूँ ।

अतएव, सर्वप्रथम हम भगवान् के किसी रूप से प्रारंभ करें। मेरी देहात्म बुद्धि है। मैं शरीर को ही सब कुछ मानता हूँ। सब लोगों के समान मैं भी एक व्यक्ति हूँ। मैं अनंत आत्मा की भावना कैसे करूँ? मैं नहीं कर पाता। अतः जैसा हनुमान ने कहा था, मैं वैसा करूँ। एक बार श्रीराम ने हनुमान से पूछा, "तुम मुझे किस दृष्टि से देखते हो?" हनुमान ने उत्तर दिया, "भगवन्, जब मैं अपने प्रति देहबुद्धि रखता हूँ तो आपको स्वामी समझता हूँ और अपने को आपका सेवक। जब मैं अपने को जीव समझता हूँ तो आपको पूर्ण और अपने को उसका एक अंग मानता हूँ। किन्तु जब मैं सारी सीमाओं के ऊपर उठकर अपने को आत्मा समझता हूँ तो आपमें और अपने में कोई अंतर नहीं देख पाता!" अतः हम शुरू से ही प्रारंभ करें।

श्रीरामकृष्ण बड़े व्यावहारिक हैं। वे तीन प्रकार के आनंद की बात कहते हैं। एक है विषयानंद, जो इन विषयों के साथ इन्द्रियों के संयोग से हमें प्राप्त होता है। दूसरा है भजनानंद, जो हमें भजन, जप और ध्यान से प्राप्त होता है। तीसरा है ब्रह्मानंद, जो परमात्मा के साक्षात्कार के फलस्वरूप प्राप्त होता है। आध्यात्मिक जीवन में हम जितना बने, भजनानंद प्राप्त करें। वह सबकी पहुँच के अन्दर है। जप और भगवान् के आनंदमय रूप के ध्यान से जो आनंद प्राप्त होता है, उसे हम दूसरे साधकों के साथ मिलकर बाँट लें। यही कारण है

कि जब समान आध्यात्मिक दृष्टिकोण वाले भक्त मिलते हैं तो वे सब मिलकर भगवान् के नाम और उनकी महिमा का गायन करते हैं। कम से कम उस समय के लिए वे इस संसार के दुख-कष्टों को भूल जाते हैं, मन उच्चतर अवस्था में आरूढ़ हो जाता है और परमात्मा की शान्ति हृदय में कुछ मात्रा में उतर आती है। पर हमें यहीं पर नहीं रुकना है। हमारे महान गुरुजन कहा करते थे—आगे बढ़ो और दूसरों को भी आगे बढ़ने में सहायता दो। जो आध्यात्मिक दृष्टि से प्रबुद्ध हो चुका है, वही यथार्थ में गुरु बन सकता है; परंतु दूसरों की सेवा करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम पहले से ही पूरी तरह प्रबुद्ध हों। आज यदि मैं उच्चतर कक्षा का विद्यार्थी हूँ और यदि शिक्षकों की कमी है तो मैं नीचे की कोई भी कक्षा पढ़ा सकता हूँ। मैं उन लोगों की सेवा में आ सकता हूँ जो नीचे की कक्षा में पढ़ते हैं। इसके लिये पूर्ण रूप से प्रबुद्ध होने तक रुकने की आवश्यकता नहीं। जीवन की प्रत्येक अवस्था में यह संभव है कि हम अपने साथियों की सेवा कर सकें।

जैसा स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, उच्चतम आदर्श है—पहले हम स्वयं देवता बनें और तब दूसरों को देवता बनने में सहायता दें। यदि हम थोड़ा आगे बढ़ें तो दूसरों को भी आगे बढ़ने में मदद दे सकते हैं। इसीलिए स्वामीजी ने कहा है—'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय

च,' अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करना और साथ ही संसार का हित करना। जैसे जैसे हम उन्नत होते हैं, हम दूसरों को भी उन्नत बनने में मदद दे सकते हैं। एक बड़ी सुन्दर प्रार्थना है–

दुर्जनः सज्जनो भूयात्, सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ।।

अर्थात्, दुर्जन लोग सज्जन बन जाएँ और सज्जन शांति प्राप्त कर लें। जो शांत हो चुका, वह बंधन से मुक्त हो जाए। जो बंधन से मुक्त हो गया वह दूसरों को भी मुक्त होने में सहायक बने। हम यथाशक्ति ऐसा प्रयत्न करें कि अपनी आध्यात्मिक साधनाओं के साथ हम दूसरों की भी सेवा कर सकें। इस प्रकार मेरी अपनी व्यक्तिगत साधना और दूसरों की सेवा ये दो ऐसे उपाय हैं जो भीतर की शुचिता लाने में मेरे सहायक होते हैं। यह सारा आदर्श हमारे सामने है और हममें से प्रत्येक अपने अपने ढंग से इस सत्य की ओर कदम कदम आगे बढ़ चले। एक बात का ध्यान रखना होगा कि हमारी साधना हमें कहीं आत्मकेन्द्रित न बना दे। हम अपनी समस्त साधना का फल उस परमात्मा को ही सौंप दें। श्रीरामकृष्ण का कथन स्मरण करो, "यदि हम ईश्वर की ओर एक कदम आगे बढ़ें, तो वे हमारी ओर दस कदम आ जाते हैं।" इस सत्य का अनुभव आत्मा के राज्य में करना चाहिए। अतः बढ़े चलो। ईश्वर तुम्हारी रक्षा करेंगे। वे ही तुम्हें रास्ता दिखाएँगे और तुम्हारे हृदय

को पावित्र्य, प्रेम, आनंद और अपनी सत्ता से भर देंगे।

हम सबके हृदय में रहने वाले इस परमात्मा का नमन करें। वह समस्त अस्तित्व का अधिष्ठान है, परम सत्ता है, परम ज्ञान और परम आत्मा है। इसी सर्व-व्यापी और सर्वानुस्यूत आत्मा से सारा प्रपंच निकला है, उसी में यह स्थित है और उसी में यह लय को प्राप्त होता है। आओ, थोड़ी देर के लिए हम उस अनंत आत्मा का ध्यान करें। वह सर्वव्यापी आनंदमय तत्त्व हम सबकी रक्षा करे, वह हमें पथ दिखाए। वह हमारा पोषण करे। वह हमारा मंगल करे। जो कुछ हमने सीखा और पढ़ा, वह उनकी कृपा से सफल हो। हमारे हृदय में शान्ति और समता विराजित हो। ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः।

हे प्रभो, तुझे पाने के जितने भी रास्ते हैं वे सभी विभिन्न नदियों के समान हैं जो अंत में सत्, चित् और आनंद के सागर में समा जाते हैं। तू ही हमारी माता है। तू ही हमारा पिता है। तू ही सखा है। तू ही सुहृद है। तू ही हमारा ज्ञान है, हमारी संपत्ति है। हे प्रभो! तू ही हमारा सर्वस्व है। असतो मा सद्गमय-तू अनित्य से हमें नित्य की ओर ले चल। तमसो मा ज्योतिर्गमय– हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चल। मृत्योर्मा अमृतं गमय– हमें मृत्यु से अमरता की ओर ले चल। हे प्रभो ! हम तुझे अपने हृदय के अन्तरतम प्रदेश में देख सकें। सर्वत्र, सभी ओर और सबमें तेरा दर्शन कर

सकें। हम तुझसे प्रेम कर सकें और सबमें तेरी सेवा कर सकें और इस प्रकार मानव जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः।

●

अभ्यास से योग, योग से ज्ञान, ज्ञान से प्रेम और प्रेम से परमानन्द की प्राप्ति होती है। 'मुझे और मेरा' एक अन्धविश्वास है; हम उसमें इतने समय रह चुके हैं कि उसे दूर करना प्रायः असम्भव है; परन्तु यदि हमें सर्वोच्च स्तर पर पहुंचना है तो हमें इससे अवश्य मुक्त होना चाहिए। हमें सुखी और प्रसन्न होना चाहिए। मुंह लटकाने से धर्म नहीं बनता। धर्म संसार में सर्वाधिक आनन्द की वस्तु होना चाहिए, क्योंकि वही सर्वोत्तम वस्तु है। जो व्यक्ति भगवत्प्रेमी और पवित्र है, वह दुःखी क्यों होगा? उसे तो एक सुखी बच्चे के समान होना चाहिए, क्योंकि वह तो सचमुच भगवान् की ही एक सन्तान है। धर्म में सर्वोपरि बात चित्त को निर्मल करने की है। स्वर्ग का राज्य हमारे भीतर है, पर केवल निर्मल चित्त व्यक्ति ही राजा के दर्शन कर सकता है। जब हम संसार का चिन्तन करते हैं, तब हमारे लिए संसार ही होता है, किन्तु यदि हम उसके पास इस भाव से जायँ कि वह ईश्वर है तो हमें ईश्वर की प्राप्ति होगी।

—स्वामी विवेकानन्द

पूर्णचन्द्र घोष

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

श्री पूर्णचन्द्र घोष तेरह वर्ष की आयु में यु ावतार श्रीरामकृष्ण देव के सम्पर्क में आए थे। उस समय वे कलकत्ता के मेट्रोपोलिटन स्कूल में सातवीं कक्षा में पढ़ रहे थे। इस स्कूल की स्थापना ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने की थी और 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' के अमर रचियता श्री महेन्द्रनाथ गुप्त इसके प्रधानाध्यापक थे। महेन्द्रनाथ अपने स्कूल के मेधावी विद्यार्थियों को श्रीरामकृष्ण देव के समीप ले जाया करते थे। उनके अधिकांश विद्यार्थी श्रीरामकृष्ण देव के अंतरंग भक्त बन चुके थे। इसीलिए अन्य भक्तगण महेन्द्रनाथ को परिहास में 'लड़का पकड़ने वाला मास्टर' कहा करते थे। महेन्द्रनाथ ने जिन विद्यार्थियों का परिचय श्रीरामकृष्ण देव से कराया था, उनमें से अधिकांश ने आगे चलकर श्रीरामकृष्ण-संघ की स्थापना की और युगावतार के संदेश को विश्वव्यापी बनाया। इस दृष्टि से महेन्द्रनाथ या 'मास्टर महाशय' को श्रीरामकृष्ण-भक्तमण्डल का संयोजक कहा जा सकता है।

मास्टर महाशय पूर्णचन्द्र के गुणों से मुग्ध थे। उन्होंने पहचान लिया कि इस किशोर का स्वभाव भक्तिभाव से परिपूर्ण है। उन्होंने पूर्ण को 'चैतन्य

चरितामृत' पढ़ने के लिये कहा। इस बीच वे पूर्ण से यदा-कदा ईश्वर-चर्चा करते रहे। फिर एक दिन उन्होंने पूर्ण से कहा, "अगर तुम चैतन्य के समान महान् व्यक्ति से मिलना चाहो तो मेरे साथ चलो।" पूर्ण तुरन्त सहमत हो गये पर दूसरे क्षण उन्हें अपने पिता के गुस्से का खयाल हो आया और वे सोचने विचारने लगे कि दक्षिणेश्वर आने-जाने में तो सारा दिन बीत जाएगा और यदि उनके पिताजी को यह बात मालूम हो गयी तो वे बहुत क्रोधित होंगे।

पूर्ण के पिता रायबहादुर दीनानाथ घोष एक बड़े सरकारी अफसर थे। वे अपने घर में भी अनुशासन रखते थे। उन्हें अपने पद और अपनी मर्यादा का बड़ा ध्यान रहता था। उनकी गणना कलकत्ते के प्रतिष्ठित लोगों में होती थी और वे यह कभी गवारा नहीं कर सकते थे कि उनका पुत्र दक्षिणेश्वर के एक दरिद्र पुजारी के पीछे भागता फिरे। इसलिए दक्षिणेश्वर जाने की बात सुनकर पूर्ण उधेड़बुन में फँस गए। फिर उन्होंने सोचा कि दक्षिणेश्वर में उनके एक रिश्तेदार भी रहते हैं और उनके घर जाने पर पिताजी क्रोधित नहीं होंगे। इस प्रकार रिश्तेदार के घर जाने का बहाना बनाकर पूर्ण मास्टर महाशय के साथ सन् १८८५ के मार्च महीने के एक दिन दक्षिणेश्वर पहुँचे।

दक्षिणेश्वर के पुनीत वातावरण में पूर्ण का किशोर हृदय उल्लास से भर उठा। श्रीरामकृष्ण देव को देखते

ही वे उनके पादाम्बुजों में गिर पड़े और श्रीरामकृष्ण भी उन्हें देखकर समाधिस्थ हो गये। फिर वे एकटक पूर्ण की ओर देखते रहे और उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु टपकने लगे। उन्होंने पूर्ण को खींचकर अपने हृदय से लगा लिया और परम आत्मीयता से उन्हें अपने हाथों से मिठाइयाँ खिलाने लगे। जिस प्रकार पुत्र निःसकोच भाव से अपने पिता की गोद में बैठ जाता है उसी प्रकार पूर्ण भी निश्चिन्त रूप से युगावतार के हाथों से फलादि ग्रहण करने लगे।

मास्टर महाशय इस अपूर्व लीला को मुग्ध दृष्टि से देख रहे थे। समय होने पर उन्होंने पूर्ण को वापस लौटने की याद दिलाई। पूर्ण बेमन से उठ खड़े हुए। वे जब कलकत्ता लौटने लगे तब श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा, "जब भी तुम्हें समय मिले, यहाँ आ जाना। यहाँ से तुम्हें लौटने के लिए गाड़ी का किराया मिल जाएगा।" इसप्रकार श्रीभगवान् की इच्छा से पूर्ण के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हो गया और रायबहादुर दीनानाथ यह जान ही नहीं पाये कि उनके पुत्र ने दक्षिणेश्वर के संत से लोकोत्तर जीवन की दीक्षा ले ली है।

श्रीरामकृष्ण देव को ध्यान में अपने लीला-सहचरों का ज्ञान हो गया था। यही कारण था कि वे अपने अंतरंग भक्तों को देखते ही पहचान लिया करते थे और बताते थे कि उसे उन्होंने बहुत पहले ही ध्यान में देख

लिया है। पूर्ण के सम्बन्ध में भी उन्हें ऐसी अनुभूति हुई थी। इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने बताया था, "बहुत दिनों पहले मैंने ध्यान में देखा कि मैं शिहड़ के ५-६ मील के रास्ते पर अकेला जा रहा हूँ। वहाँ एक १५-१६ वर्ष का अत्यन्त सुन्दर युवक है। मैंने वटवृक्ष के नीचे जिस परमहंस को देखा था वह युवक ठीक वैसा ही था। चारों दिशाओं से आनन्द का प्रवाह उमड़ा पड़ रहा था। इसी प्रवाह के मध्य एक १३-१४ वर्ष का बालक प्रकट हुआ। उसका चेहरा पूर्ण के समान था। वे दोनों दिगम्बर थे और खेतों में खेल-कूद रहे थे। पूर्ण को प्यास लग आई। उसने गिलास से पानी पिया और फिर उसे मेरे पास ले आया। मैंने उससे कहा, 'मैं किसी का जूठा पानी नहीं पी सकता।' मेरी बात सुनकर वह हँसने लगा और गिलास धोकर स्वच्छ जल ले आया।"

इसके बाद पूर्ण कभी मास्टर महाशय के साथ और कभी अकेले ही दक्षिणेश्वर आने लगे। वहाँ उन्होंने अनुभव किया कि श्रीरामकृष्ण देव के लोकोत्तर स्नेह के समक्ष उनके परिजनों का प्रेम फीका है। युगावतार के मंगल-साहचर्य से पूर्ण में उत्कट आध्यात्मिकता का संचार हो गया। वे निरन्तर ईश्वर-चिन्तन करने लगे और अपने परिजनों एवं मित्रों के प्रति उदासीन हो गए। श्रीरामकृष्ण देव भी पूर्ण से अतीव स्नेह करते थे। वे पूर्ण से मिलने के लिये आकुल हो उठते और कभी-कभी

रुदन भी करने लगते। यदि कोई भक्त उनकी यह अवस्था देखकर चकित होता तो वे कहते, "अरे, तुम तो पूर्ण के लिये मेरी इस आकुलता को देखकर आश्चर्य कर रहे हो ! अगर तुम मुझे नरेन्द्र के लिये बिलखते देखते तो पता नहीं तुम्हें कैसा लगता ?" कभी वे कहते, "अगर मैं एक बार पूर्ण को देख लूं तो मेरी व्यथा कुछ कम हो जाएगी। वह कितना बुद्धिमान है ! और वह मुझसे कितना प्रेम करता है !" पूर्ण भी श्रीरामकृष्ण देव को बताते, "महाराज, मेरा हृदय आपसे मिलने के लिये आकुल रहता है।"

पूर्ण श्रीरामकृष्ण देव से मिलने के लिये बार-बार दक्षिणेश्वर नहीं जा सकते थे इसलिए श्रीरामकृष्ण ही उनसे मिलने के लिये कलकत्ता आ जाते और उसे बुलवा लिया करते थें। एक बार पूर्ण एक भक्त के घर श्रीरामकृष्ण से मिले। श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर से पूर्ण के लिये मिठाइयाँ लेते आए थे। पूर्ण को उन्होंने अपने समीप खींच लिया और उसे मिठाइयाँ खिलाने लगे। फिर उन्होंने पूर्ण से पूछा, "अच्छा बताओ, तुम मुझे क्या समझते हो ?" भक्तिविह्वल स्वर से पूर्ण ने कहा, "महाराज, आप तो साक्षात् ईश्वर हैं !" उपस्थित जनसमुदाय एक किशोर के मुख से यह उत्तर सुनकर अवाक् रह गया। दक्षिणेश्वर लौटते समय श्रीरामकृष्णदेव बोले, "पूर्ण तो नासमझ है। क्या तुम बता सकते हो कि उसने ऐसा कैसे कहा ? यह सब पूर्व जन्म का संस्कार है।

उसका हृदय बड़ा निर्मल और पवित्र है। ऐसे हृदय में सत्य स्वाभाविक रूप से स्वयं को अभिव्यक्त कर देता है।"

एक अन्य दिन भी श्रीरामकृष्ण कलकत्ता आये हुए थे। उन्होंने मास्टर महाशय को पूर्ण को बुला लाने के लिए कहा। रात हो गई थी और पूर्ण कार्नवालिस स्ट्रीट के अपने मकान में पढ़ रहे थे। मास्टर महाशय ने खिड़की से झाँककर पूर्ण को बुलाया और कहा कि श्रीरामकृष्ण श्यामपुकुर लेन और कार्नवालिस स्ट्रीट के चौराहे पर खड़े हैं और उससे मिलना चाहते हैं। पूर्ण तुरन्त मास्टर महाशय के साथ चले। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें देखते ही अंक में भर लिया और उन्हें अपने हाथों से मिठाइयाँ खिलाने लगे। फिर वे मास्टर महाशय के घर पहुँचे। वहाँ श्रीरामकृष्ण ने पूर्ण को अनेक आध्यात्मिक निर्देश दिए।

कुछ दिनों के बाद श्रीरामकृष्ण ने मास्टर महाशय से पूर्ण की आध्यात्मिक प्रगति के विषय में पूछताछ की। मास्टर ने बताया, "वह तीन-चार दिनों से कह रहा है कि जब भी वह ईश्वर का चिन्तन करता है, उसकी आँखों से आँसू झरने लगते हैं और सारा शरीर रोमांचित हो उठता है।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण बोले— "वह निरपवाद रूप से एक महान् आत्मा है। मैं स्वयं उसके लिए जप करता हूँ। पर वह यह नहीं जानता।" कुछ दिनों के बाद उन्होंने पुनः मास्टर महाशय से पूछा,

"अब पूर्ण की अवस्था कैसी है ? क्या उसे दैवी आवेश होता है ?" मास्टर महाशय ने कहा, "नहीं, महाराज, इस प्रकार के कोई बाह्य लक्षण दिखाई नहीं देते ।" तव श्रीरामकृष्ण ने वताया, "उसकी आध्यात्मिक अवस्था का बाह्य प्रकाशन नहीं होगा । उसकी अलग कोटि है । उसके अन्य सभी लक्षण उत्तम हैं ।"

युगावतार ने पूर्ण के मन में आध्यात्मिकता के प्रदीप को प्रज्वलित कर दिया था । धीरे-धीरे पूर्ण के मन में संसार की अमारता की अनुभूति गहरी होने लगी । एक दिन उन्होंने भक्तों के मध्य यह घोषणा कर दी कि संसार पूर्णतः मिथ्या है । एक कच्ची उमर के किशोर के मुख से इस बात को सुनकर लोग बड़े चकित हुए । श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ-भक्त बलराम बोस ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "पूर्ण को अकस्मात् यह अनुभूति कैसे हो गयी कि ससार मिथ्या है ?" श्रीरामकृष्ण ने बताया, "यह उसके पूर्वजन्मों का संस्कार है । उसने अपने पूर्वजन्मों में सब कुछ कर लिया है ।"

श्रीरामकृष्ण जानते थे कि ईश्वर की कृपा के बिना इसप्रकार की अनुभूति नहीं हो सकती । वे नरेन्द्र, छोटा नरेन्द्र और पूर्ण में पुरुष का अंश मानते थे । पूर्ण की तीव्र आध्यात्मिक उन्नति को देखकर उन्होंने एक भक्त से कहा था, "पूर्ण की वर्तमान अवस्था को देखकर ऐसा लगता है कि वह या तो यह सोचकर देह को त्याग देगा कि 'ईश्वर-लाभ के पश्चात् देहधारण की

क्या आवश्यकता है ?' अथवा, उसकी पूर्णता की सर्वतो-मुखी अभिव्यक्ति हो जायेगी। यह ईश्वरीय अवस्था है, दैवी स्वभाव है। इस अवस्था में यदि उसे हार पहनाया जाय, उसकी देह पर चन्दन का लेप किया जाय और धूप-दीप जलाया जाय तो वह तुरन्त ईश्वरीय भाव से अभिभूत हो जाएगा। तब तुम्हें विश्वास होगा कि उसमें नारायण का अंश है, नारायण यहाँ स्वयं विद्य-मान हैं।"

'सबै दिन जात न एक समान'। पूर्ण की विरक्ति को देखकर उनके पिता रायबहादुर दीनानाथ का माथा ठनका। उन्हें शीघ्र ही पता चल गया कि उनका पुत्र हेडमास्टर का बहाना बनाकर दक्षिणेश्वर जाने लगा है। उन्होंने तत्काल पूर्ण का स्कूल बदल दिया और उन्हें सख्त ताकीद कर दी कि वह दक्षिणेश्वर न जाए। पर पूर्ण अपने पिता की बातों को अनसुनी कर दक्षिणेश्वर जाते रहे। इसी तरह कुछ समय और बीता। श्रीराम-कृष्ण ने अपनी लीला का संवरण कर लिया। उनके भक्तगण नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में संगठित हुए और श्रीरामकृष्ण के संदेश का प्रचार करने का व्रत लेते हुए उन्होंने संन्यास-ग्रहण कर लिया। पूर्ण भी संन्यासी बनना चाहते थे। पर उनके पिता ने उनका विचार भाँप लिया और तत्काल उनका विवाह कर दिया। श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था कि यदि पूर्ण का विवाह होगा तो उसकी अकालमृत्यु हो जायेगी। पूर्ण के पिता

इससे अवगत थे पर उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। फलतः १६ वर्ष की आयु में ही उनका विवाह कर दिया गया और इसप्रकार नियति ने उनकी आध्यात्मिक सम्भावनाओं पर एक लोह-आवरण डाल दिया।

कालान्तर में पूर्ण को एक अच्छी सरकारी नौकरी मिल गई और वे सद्गृहस्थ भी बने, पर यह उनके जीवन का एक निराशापूर्ण मोड़ था। जो पूर्ण अपने गुरुभाइयों में स्वामी विवेकानन्द के बाद गणनीय थे वे जागतिक परिस्थितियों के वशीभूत हो गये। यद्यपि पूर्ण ने गार्हस्थ्य जीवन के सभी कर्म पुरुषार्थपूर्वक किए, पर उनके हृदय में एक गहरी बेचैनी भरी हुई थी। श्रीरामकृष्ण देव और उनके शिष्यों के प्रति उनकी भक्ति आजीवन निष्कम्प रही। यद्यपि उन्होंने अपनी संतानों को पूरी शिक्षा दी, अपनी पुत्रियों का सम्पन्न घरों में विवाह किया, अपने भाइयों और मित्रों की सहायता की पर उनका मन सदैव युगावतार के चरण–कमलों में लगा रहा।

उनका स्मरण करते हुए कुमुद बंधु सेन ने लिखा है, "मैंने उनके साथ घण्टों बिताए हैं और उन्हें अनवरत रूप से श्रीरामकृष्ण देव की बातें करते सुनी हैं। कभी-कभी वे शांत होकर अपने मित्रों की बातें भी सुनते थे और बीच-बीच में अपनी राय दे दिया करते थे। जब वे कलकत्तें में रहते तब वे प्रति रविवार बेलुड़ मठ

जाया करते। वहाँ वे प्रसन्नवदन सिगार पीते हुए बैठे रहते और अनमने भाव से बातें किया करते। उन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति यह कह सकता था कि वे अपने ही दिव्य भावों में लीन हैं। उनके घर अधिकांशत: श्रीरामकृष्ण देव के भक्तगण ही आया करते थे। वे किशोरों मे बात करना पसंद करते थे इसलिए मास्टर महाशय उनके पास भक्तिभावपूर्ण किशोरों को भेजा करतें थे। यदि वे किसी ऐसे व्यक्ति से मिलते जो संसार त्यागकर बेलुड़ मठ में रहने का विचार करता तो उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती थी।"

श्रीरामकृष्ण देव के भक्तगणों के प्रति पूर्ण की बड़ी श्रद्धा थी और वे लोग भी पूर्ण का यथोचित सम्मान करते। श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ भक्त गिरीशचन्द्र घोष उनसे अपार स्नेह करते थे। जब रोगशय्या में पड़े गिरीश बाबू ने पूर्ण से कहा, "भाई, मुझे आशीर्वाद दो कि मैं अपने जीवन के प्रत्येक पल में ठाकुर का स्मरण करता रहूँ," तब पूर्ण ने अत्यन्त विनम्रता से कहा, "भाई, तुम पर तो सदैव ठाकुर की कृपा है। तुम्हीं मुझे यह आशीर्वाद प्रदान करो।"

सन् १९०७ में पूर्ण कलकत्ते की विवेकानन्द सोसायटी के सचिव चुने गये। वे प्रतिदिन सन्ध्या सोसायटी के प्रार्थनागृह में ध्यान किया करते थे और अन्य लोगों को भी ध्यान करने के लिये प्रोत्साहित करते थे। किन्तु साल भर के बाद वे शिमला चले गये। वहाँ भी उनका

यह क्रम नहीं टूटा। कार्यालय से निवृत्त होते ही वे पर्वतों की ओर निकल जाते और एकांत में ध्यान करने लगते। जब काफी रात हो जाती तब घर लौटते। वहाँ परिवार के साथ होते हुए भी वे एकाकी थे, घर में रहते हुए भी अनिकेत थे। ठाकुर का पुनीत चिन्तन उन्हें शक्ति प्रदान करता था। ३५-३६ वर्ष की अवस्था में वे गम्भीर रूप से रुग्ण हुए। ऐसा प्रतीत होने लगा कि ठाकुर की भविष्यवाणी सत्य होने वाली है। उस समय स्वामी प्रेमानन्द जी भी उनके समीप थे। उन्होंने ध्यान में देखा कि ठाकुर पूर्ण की आयु कुछ अधिक बढ़ा दे रहे हैं क्योंकि पूर्ण के पुत्र अभी बहुत छोटे हैं। इसके कुछ समय के बाद पूर्ण रोगमुक्त हो गये।

अपनी नौकरी के सिलसिले में पूर्ण को साल के छः महीने कलकत्ता में और छः महीने शिमला में रहना पड़ता था। जब भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली ले जाई गई तब पूर्ण भी वहाँ चले आये। कुछ वर्ष बाद वे पुनः रोगग्रस्त हो गए और कलकत्ता लाये गये। उनकी पत्नी उनकी गम्भीर अवस्था देखकर बहुत निराश हो गईं। उन्हें सान्त्वना देते हुए पूर्ण ने कहा, "क्या हम संसार के सामान्य लोगों के समान हैं? हम तो ठाकुर के ही जन हैं। जिसने तुम्हें मेरे विवाह के पहले भोजन और आश्रय दिया था वही मेरी मृत्यु के बाद भी तुम्हारी देखभाल करेगा।"

छः महीने तक निरन्तर रुग्ण रहने के कारण पूर्ण बहुत

दुर्बल हो गये। वे उठ-बैठ नहीं पाते थे। उन्हें असह्य पीड़ा थी, फिर भी उनके मुख पर प्रशान्ति छायी रहती और उन्हें ठाकुर की जीवन्त उपस्थिति का सदैव अनुभव होता रहता। उनके एक परिचित ने उनकी पीड़ा को देखकर कहा, "आह! यदि आज ठाकुर होते तो आपको इतने कष्ट में देखकर उन्हें बड़ी व्यथा होती।" यह सुनते ही पूर्ण ने यथाशक्ति जोरों से प्रतिवाद करते हुए कहा, "कौन कहता है कि ठाकुर यहाँ नहीं हैं! मैं तो उन्हें साक्षात् देख रहा हूँ। कल मैं दीवार के सहारे चलते हुए शौच के लिये वाहर गया था। ठाकुर ने मुझे सहारा दिया और फिर मुझे वाहर से अपने हाथों में उठाकर बिस्तर में लिटा दिया।" इसी चरम प्रशान्ति की अनुभूति पूर्ण को मृत्यु पर्यन्त होती रही। मृत्यु के समय उनका मुखमण्डल पूरी तरह प्रशान्त था तथा लोगों को विश्वास ही नहीं होता था कि उन्होंने देहत्याग कर दिया है। श्रीरामकृष्ण देव का कथन घटित हो गया। १६ नवम्बर सन् १९१३ को पूर्ण का देहावसान हो गया। इस समय उनकी अवस्था केवल बयालिस वर्ष की थी।

श्रीरामकृष्ण देव अपने कुछ भक्तों को ईश्वर-कोटि का और कुछ को जीव-कोटि का कहा करते थे। जीव-कोटि यद्यपि जन्म से पूर्ण नहीं होते तथापि आध्यात्मिक साधनाओं के द्वारा वे इसी जन्म में मुक्त हो सकते हैं। एक वार मुक्त होने पर वे दुबारा देह-धारण नहीं

करते। किन्तु ईश्वर-कोटि के व्यक्ति जन्म से ही पूर्ण होते हैं और सामान्य लोगों के कल्याण के लिये बार-बार देह-धारण करते हैं। यह स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता कि श्रीरामकृष्ण के कौन-कौन से भक्त ईश्वर-कोटि के थे। पर उनके कथनों के आधार पर स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी योगानन्द, स्वामी निरजनानन्द, स्वामी प्रेमानन्द और पूर्णचन्द्र घोष को ईश्वर-कोटि का माना जा सकता हैं। यद्यपि पूर्ण संन्यासी नहीं थे फिर भी उनके सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण की बड़ी ऊँची धारणा थी। वे कहा करते थे, "मैंने ध्यान में जिन भक्तों को यहाँ ईश्वर-लाभ के लिये आते देखा था वह पूर्ण के साथ ही पूर्ण हो गया।" श्रीरामकृष्ण पूर्ण को विष्णु का अश भी कहते थे।

इतनी महान् आध्यात्मिक सम्भावनाओं के साथ जन्मे पूर्ण को भी प्रकृति की रहस्यमयी लीला का शिकार बनना पड़ा था। यद्यपि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उन्हें विवाह करना पड़ा और गृहस्थ जीवन व्यतीत करना पड़ा पर उनके हृदय में सदैव आध्यात्मिकता को अग्नि धधकती रही। इस सम्बन्ध में स्वामी सारदानन्द जी ने लिखा है, "यद्यपि परिस्थितियों से बाध्य होकर पूर्ण को विवाह करना पड़ा और गृहस्थ-जीवन बिताना पड़ा पर जो लोग पूर्ण के निकट आए हैं वे जानते हैं कि उनका विश्वास कितना अपूर्व था, उनकी ईश्वरनिष्ठा कितनी अटल थी, उनकी आध्यात्मिकता कितनी तल-

स्पर्शी थी, उनका स्वभाव कितना अहंकारशून्य था और उनकी वृत्ति कितनी निःस्वार्थ थी ! ”

उनको श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रसिद्ध बंग-पत्रिका 'उद्‌बोधन' के सम्पादक ने लिखा था, “जो वीतरागी होकर पैदा हुए हैं और जिन्हें बलात् गृहस्थ-जीवन अपनाना पड़ा है वे विवाहित जीवन का आनन्द कभी भी नहीं ले सकते। ईश्वर की अकल्पनीय इच्छा से पूर्ण के साथ भी यही हुआ। वे जीवन भर बेचैनी का अनुभव करते रहे। इसका कारण यह था कि वे पूरी तरह से अपना जीवन ईश्वर की आराधना में नहीं लगा सके थे। ”

●

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रांकुरात्
समुद्रमपि संतरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्।
भुजगमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥

—मनुष्य घड़ियाल के मुख से बलपूर्वक मणि निकाल सकता है और भयंकर लहरों से भरे दुस्तर समुद्र को भी तैरकर पार कर सकता है, क्रोधित सर्प को पुष्प की भाँति सिर पर धारण कर सकता है, परन्तु हठी मूर्खों के चित्त को नहीं मना सकता !

—भर्तृहरि

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

शत-शत कामिनियों द्वारा मुक्त कण्ठ से की गई प्रशंसा और सहस्रों लोगों की अभ्यर्थना ने उस युवा हिन्दू संन्यासी को तनिक भी प्रभावित नहीं किया। अमेरिकावासियों की स्तुति के स्वर चतुर्दिक गूँज रहे थे पर स्वामी विवेकानन्द का हृदय अपने देशवासियों की हीन दशा का विचार कर पछाड़ें खा रहा था। उनके प्रथम व्याख्यान से मंत्रमुग्ध अनेक लक्षाधिपति उन्हें अपने घर आमंत्रित करने के लिए उत्सुक थे। पर पूर्व-निश्चित कार्यक्रम के अनुसार विवेकानन्द शिकागो के एक धनकुबेर के अतिथि बने। गगनचुम्बी अट्टालिका के एक सुसज्जित कक्ष में उन्हें ठहराया गया। कीमती कालीनों और मक्खन के समान मुलायम मसनदों से युक्त वह कक्ष भारतात्मा विवेकानन्द को प्रसन्न नहीं कर सका। मसनद पर बैठते ही उनका हृदय घनीभूत अवसाद से भर आया। वे तकिये में मुँह छिपाकर रोने लगे और कहने लगे, "माँ, जब मेरा देश अवर्णनीय दरिद्रता से पीड़ित है तब मैं ऐसे मान-यश की आकांक्षा कैसे कर सकता हूँ ! मेरे गरीब भारतवासी कितनी दुःखद अवस्था में जी रहे हैं। उनके पास रहने का ठिकाना नहीं है, पहनने के लिए कपड़ा नहीं है। मेरे लक्ष-लक्ष

देशवासी जहाँ एक मुट्ठी अन्न के बिना तड़पकर मर रहे हैं वहाँ इस देश के लोग अपने मनोरंजन में ही लाखों रुपये फूंक दिया करते हैं ! भारत की जनता को कौन उठायेगा ? कौन उसे खाने के लिए भोजन देगा ? माँ, मुझे बताओ कि मैं किस प्रकार उनकी सेवा कर सकता हूँ ?" जिस समय लोगों के द्वारा उनकी प्रशंसा और अभ्यर्थना गाई जा रही थी उस समय वे अपने सुसज्जित कक्ष में अपने देशवासी भाइयों की दुर्दशा का विचार कर आँसू बहा रहे थे। सुकोमल शय्या उन्हें काँटों से भरी प्रतीत हुई। वे जमीन पर गिरकर रुदन करते रहे।

जिस विशाल प्रासाद में स्वामी विवेकानन्द ठहराये गये थे उसके स्वामी थे श्री लियोन । उनकी गणना शिकागो के बड़े उद्योगपतियों में होती थी। दक्षिणी प्रदेश में उनके शक्कर के अनेक कारखाने थे। यद्यपि वे बड़े धार्मिक और उदार स्वभाव के थे किन्तु उन्हें कट्टर धर्मावलम्बियों से सख्त नफरत थी। कहना न होगा कि स्वामीजी अपनी बालसुलभ सरलता और विद्वत्ता के कारण इस परिवार में घुलमिल गये थे।

श्रीमती लियोन की दौहित्री श्रीमती कार्नेलिया कांगर ने स्वामीजी के लियोन परिवार से परिचय और सुमधुर सम्बन्ध का कुछ वृत्तान्त अत्यन्त सुन्दर और सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है। उसे यहाँ पर उद्‌धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा। उन्होंने लिखा है, "धर्म-

महासभा के प्रारम्भ होने के पूर्व अनेक सम्प्रदाय के सम्पन्न व्यक्ति उसके प्रतिनिधियों को अपने अपने भवनों में ठहराने के लिये तत्पर थे। मेरी मातामही श्रीमती जोन. बी. लियोन इनमें से एक थीं। उन्होंने धर्म-महासभा के कार्यकर्ताओं से अनुरोध किया था कि उनके घर उदार विचार वाले प्रतिनिधियों को ठहराया जाय। इसका कारण यह था कि मेरे नाना यद्यपि दर्शन में अत्यन्त अभिरुचि रखते थे किन्तु उन्हें धर्मान्ध व्यक्तियों से बड़ी अरुचि थी। हमारा घर मिशिगन एवेन्यू में था। उस ग्रीष्मऋतु में हमारा घर मेहमानों में भरा हुआ था, क्योंकि एक तो मेरे नाना और नानी बड़े अतिथिपरायण थे और दूसरे, उन दिनों विश्व-मेले की धूम मची हुई थी। इसलिये बाहर रहने वाले रिश्तेदार और मित्र शिकागो आकर विश्व-मेला देखने के लिए उत्सुक थे। जिस समय हमें यह समाचार मिला कि हमारे घर आज धर्म-महासभा के प्रतिनिधि आएँगे उस समय हमारा घर आगंतुकों से इतना ठसाठस भर गया कि मेरी मातामही ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्थानाभाव के कारण एक मित्र के घर रहने के लिए भेज दिया, ताकि उसके कक्ष में अतिथि के आवास की व्यवस्था हो सके। आने वाले प्रतिनिधि के विषय में हम लोग कुछ नहीं जानते थे कि वे कौन हैं और किस धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमें यह सूचना दी गई कि अर्धरात्रि के बाद हमारे 'प्रथम प्रिसबिटेरियन' चर्च के सदस्य उन्हें लेकर घर

आने वाले हैं। मेरी नानी के अलावा अन्य सभी लोग सो गये थे। वे उनकी प्रतीक्षा में जागती रही थीं। जब दरवाजे की घंटी बजी, तो उन्होंने तुरन्त उठकर दरवाजा खोला। उन्होंने देखा कि गेरुए कपड़ों से युक्त, लाल पगड़ी धारण किये हुए एक भव्य आकृति उनके सामने खड़ी है। वे ही स्वामी विवेकानन्द थे। मेरी नानी उन्हें देखकर विस्मित हो उठीं क्योंकि इसके पूर्व उन्होंने किसी भारतीय को नहीं देखा था। उन्होंने बड़ी हार्दिकता से स्वामीजी का स्वागत किया और उन्हें उनके आवास-कक्ष में पहुँचा दिया। जब वे सोने के लिए गईं तो कुछ चिन्तित हो गईं। हमारे कुछ मेहमान दक्षिण से आये थे। दक्षिण में हमारे बहुत से मित्र रहा करते थे क्योंकि वहाँ लुसियाना में हमारे गन्ने के अनेक खेत थे। दक्षिणी लोग गोरों के सिवाय अन्य वर्ण के लोगों से घृणा करते थे। वे इस मूर्खतापूर्ण धारणा पर विश्वास करते थे कि सभी काले लोगों का मानसिक और सामाजिक स्तर उनके गुलाम नीग्रो लोगों के ही समान होता है। मेरी नानी व्यक्तिगत रूप से रंग-भेद नहीं मानती थीं। वे यह अच्छी तरह से जानती थीं कि भारतीय उसी काकेशियन नस्ल के हैं जिस नस्ल की वे स्वयं हैं।

"जब मेरे नाना सोकर उठे तब नानी ने उनको अपनी समस्या से अवगत कराया और कहा कि वे स्वयं निर्णय करें कि स्वामीजी और उनके दक्षिणी मित्रों का एक साथ रहना असुविधाजनक होगा कि नहीं। यदि

कोई असुविधा हो तो वे स्वामीजी को घर के पास के आडिटोरियम होटल में अपने अतिथि के रूप में ठहरा सकते हैं। सबेरे के नाश्ते में आधे घण्टे की देरी थी। मेरे नाना कपड़े पहनकर सुबह का अखबार पढ़ने के लिये अपने ग्रंथालय में चले गये। वहीं उनकी स्वामीजी से मुलाकात हुई। जलपान से पहले ही वे उठकर नानी के पास आये और बोले, 'एमिली, अगर हमारे सभी मेहमान रुष्ट होकर चले जाएँ तब भी मैं कोई परवाह नहीं करूँगा। जितने भी लोग हमारे घर में आये हैं उन सबमें यह भारतीय अधिक मेधावी और दिलचस्प हैं। ये जितने दिन चाहें यहाँ रुक सकते हैं।' इस प्रकार इन दोनों के मध्य घनिष्ठ मैत्री का सूत्रपात हुआ। इस मैत्री के सम्बन्ध में कालान्तर में स्वामीजी ने अपने मित्रों के बीच यह कहकर लियोन महोदय को चकित कर दिया था कि 'मैंने जितने भी व्यक्ति देखे हैं उनमें श्री लियोन सर्वाधिक मात्रा में ईसा के समान हैं।' स्वाभाविक ही तब मेरे नाना ने अत्यन्त संकोच का अनुभव किया था।

"स्वामीजी मेरी नानी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। उन्हें देखने से स्वामीजी को अपनी माता का स्मरण हो आता था। वे छोटे कद वाली, सीधी और व्यक्तित्व-सम्पन्न महिला थीं। वे पूर्ण व्यावहारिक थीं तथा उनमें आत्मविश्वास और गौरव का भाव भी था। उनके निर्मल हँसी-मजाक से स्वामीजी बड़े आनन्दित होते थे।

मेरी विधवा माँ आकर्षक युवती थीं और मैं उस समय छः साल की रही हूँगी। हम लोग नाना-नानी के साथ रहा करते थे। मेरी माँ और नानी ने स्वामीजी को धर्ममहासभा में सुना था। अन्य स्थानों में आयोजित स्वामीजी के सभी व्याख्यानों में वे उपस्थित रही थीं। मुझे स्मरण है कि स्वामीजी मेरी दुखियारी माता को, जिसने अपने युवा पति को अकाल में खो दिया था, बातचीत के द्वारा निरंतर सान्त्वना प्रदान करते रहते थे। बाद में मेरी माँ ने स्वामीजी के ग्रन्थों का अध्ययन किया और उनके उपदेशों के अनुरूप चलने का प्रयत्न करती रहीं।

"मेरी बाल्यकालीन स्मृति में स्वामीजी हमारे घर के अतिथि के रूप में अंकित हैं। उनका आकर्षक व्यक्तित्व, उनकी ओजपूर्ण आँखें, उनका मधुर कण्ठ-स्वर और उनका मृदुहास्य आज भी मेरे मन में स्पष्ट रूप से झलक रहा है। उन्होंने मुझे भारत के बन्दरों और मयूरों की, उड़ने वाले हरे तोतों की, विशालकाय वटवृक्ष की, फूलों से लदे वनों की, रंग-बिरंगे फलों और सब्जियों से भरे बाजारों की अनेक चित्ताकर्षक कहानियाँ सुनाई थीं। मुझे वह सब परीलोक की कथाएँ-सी लगती थीं। उन्हें घर में आते देखकर मैं उछल पड़ती, दौड़कर उनकी गोद में चढ़ जाती और चिल्ला उठती, 'स्वामीजी, मुझे दूसरी कहानी सुनाइये न।' शायद अपने घर से बहुत दूर, एक अजनबी देश में, एक बच्ची के प्रेम और उल्लास को

देखकर उन्हें कुछ आराम मिलता था। वे मुझे सदैव अनोखे लगते थे। बच्चे बड़े संवेदनशील होते हैं। मुझे याद है कि जब मैं दौड़कर उनके कमरे में चली जाती, तो मुझे मालूम होता कि वे ध्यान में मग्न हैं और अकेले रहना चाहते हैं। बाद में वे मुझसे अनेक प्रश्न पूछते कि मैंने स्कूल में क्या पढ़ा है? वे मुझे अपनी कापियाँ दिखाने के लिये कहते। वे मुझे नक्शे में दिखाते कि भारत कहाँ है और मुझे भारत के सम्बन्ध में बहुत सी बातें बताते। वे यह बताते हुए बड़े दुःखित हो जाते थे कि अमेरिका में लड़कियों के लिये जैसी अच्छी शिक्षा की व्यवस्था है वैसी भारत में लड़कियों के लिये सुलभ नहीं है।

"मेरी नानी शहर की महिला अस्पताल की अध्यक्षा थीं। स्वामीजी ने बड़े उत्साह से उसका निरीक्षण किया था और शिशु-मृत्यु के आँकड़ों की जानकारी प्राप्त की थी। इससे पता चलता है कि वे इस देश में जानकारी प्राप्त करने के लिए कितने उत्सुक थे ताकि वे उसका उपयोग अपने देशवासियों के भले के लिये कर सकें।

"मुझे उनकी पगड़ी बड़ी अनोखी लगती थी क्योंकि मुझे वह एक ऐसी मजेदार टोपी के समान दिखायी देती थी जिसे पहनने के लिये प्रत्येक बार उसे लपेटना पड़ता था।

"अमरीकी भोजन में भारतीय भोजन के समान अधिक मसाला नहीं डाला जाता। मेरी नानी की धारणा

थी कि शायद स्वामीजी को अमरीकी भोजन फीका लगेगा, पर स्वामीजी ने आते ही बता दिया कि वे जहाँ भी जाते हैं, अपने को वहाँ के खाद्य-पदार्थों के अनुकूल बना लेते हैं। हम लोग जो भोजन ग्रहण करते थे उसे वे भी चाव से ग्रहण कर लेते थे। एक दिन मेरी नानी ने बड़े चाव से सलाद पकाया और उसमें लुसियाना के मित्रों द्वारा दिए गए 'सॉस' का उपयोग किया। सॉस में अत्यधिक मिर्च थी। स्वामीजी को सॉस की बोतल देते हुए नानी ने कहा, 'स्वामीजी! यदि आप चाहें तो अपने भोजन में एक-दो बूँद सॉस डाल सकते हैं।' पर उन्होंने इतना सॉस अपने भोजन में डाल लिया कि हम लोग आतंकित होकर बोल उठे, 'आप वह नहीं खा सकेंगे। वह तो भयानक चरपरा है।' यह सुनकर स्वामीजी हँस पड़े और उन्होंने इतने आनन्द से खाना खाया कि बाद में प्रतिदिन खाने की मेज पर उनके लिये सॉस की बोतल विशेष रूप से रखी जाने लगी।

"एक दिन शुक्रवार को अपराह्न में मेरी माँ उन्हें सिम्फनी कंसर्ट सुनाने के लिये ले गईं। इसके पहले उन्होंने कंसर्ट नहीं सुना था। वे बड़े मनोयोग से सुनते रहे, किन्तु उनका सिर एक ओर झुका हुआ था और उनके चेहरे पर कौतुक का भाव विद्यमान था। कार्य-क्रम के समाप्त होने पर माँ ने उनसे पूछा, 'क्या आपको इसमें आनन्द आया?' वे बोले, 'हाँ, यह बड़ा सुन्दर था।' पर माँ को महसूस हुआ कि बात मुक्त हृदय से

नहीं कही गई है। वे बोलीं, 'आप क्या सोच रहे हैं ?' स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'मैं दो बातों के कारण दुविधा में पड़ गया हूँ। पहले तो मेरी समझ में यह नहीं आया कि यह घोषणा क्यों की गयी कि यही कार्यक्रम शनिवार की शाम को भी दुहराया जायेगा। देखिए, भारत में एक प्रकार का संगीत केवल प्रातःकाल बजाया जाता है, दोपहर का सगीत दूसरे प्रकार का होता है और सायं-काल का संगीत बिलकुल भिन्न होता है। इसलिये मैं सोचता हूँ कि जो संगीत आपके कानों को दोपहर में मधुर प्रतीत होता है वह रात्रि में उतना मधुर नहीं लगेगा। और दूसरी जो बात मुझे अजीव लगी वह यह कि इस संगीत में मूर्च्छना का अभाव था और विविध स्वरों के बीच काफी अन्तर रखा गया था। मुझे तो इसमें वैसे ही छिद्र ही छिद्र प्रतीत हुए जैसे स्विटजरलैण्ड के पनीर में होते हैं जिसे आप प्रतिदिन मुझे परोसती हैं !'

"जब उन्होंने भाषण देना प्रारम्भ किया तो लोग उन्हें भारत में उनके द्वारा निर्धारित कार्य के लिये धन देने लगे। उनके पास कोई बटुआ नहीं था। इसलिये वे श्रोताओं द्वारा दिये गये पैसों को अपने रूमाल में बाँध लेते और गर्वित छोटे बालक की तरह उसे मेरी नानी की गोद में उड़ेल देते ताकि वे उसका हिसाब रखें। नानी ने उन्हें विभिन्न सिक्कों से परिचित करा दिया था और बता दिया था कि सिक्कों को किस प्रकार

रखना और गिनना चाहिये। मेरी नानी प्रत्येक बार उनसे हिसाब लिखा लेतीं और बैंक में उनके नाम से सारा पैसा जमा कर देती थीं। वे अपने श्रोताओं की सहृदयता को देखकर गद्‌गद् हो जाते थे क्योंकि वे लोग उन पीड़ितों की सहायता कर रहे थे जिन्हें उन्होंने कभी नहीं देखा था।

"एक दिन स्वामीजी ने मेरी नानी से कहा कि वे अमेरिका में आकर अपने जीवन के सबसे प्रचण्ड प्रलोभन में फँस गये हैं। मेरी नानी ने उन्हें चिढ़ाने के उद्देश्य से कहा, 'वह भाग्यशालिनी कौन है, स्वामीजी ?' इस पर मुक्त हास्य बिखेरते हुए वे बोले, 'वह कोई महिला नहीं है, वह संघ है !' अपनी बात को समझाते हुए उन्होंने बताया कि किसप्रकार श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण अकेले-अकेले भ्रमण करते रहे और किसी गाँव में पहुँचकर किसी वृक्ष की छाया में चुपचाप बैठे हुए यह प्रतीक्षा करते रहे कि कोई दुःख का मारा उनके पास सलाह लेने के लिये पहुँचेगा। परन्तु संयुक्तराज्य में आकर उन्होंने देखा कि किसप्रकार संघबद्धता के द्वारा कार्य अधिक उत्तम रीति से सम्पादित किया जा सकता है। उन्होंने इस तथ्य पर काफी चिन्तन और अध्ययन किया कि जिसे वे पाश्चात्य देशों में उत्तम समझते हैं उसका उपयोग वे किसप्रकार भारतीय जनता के सर्वाधिक कल्याण के लिये कर सकते हैं। उनकी बातचीत में आयरिश उच्चारण का कुछ आभास

मिलता था। मेरे नाना उनके उच्चारण को लेकर कभी-कभी उनसे मजाक करते थे। पर स्वामीजी ने बताया कि उनके सबसे श्रद्धाभाजन प्राध्यापक एक आयरिश सज्जन थे तथा वे ट्रिनटी कालेज, डब्लिन के स्नातक थे। सम्भवत: इसीलिये उनके उच्चारण में आयरिश प्रभाव आ गया था।

"जब वे दूसरी बार आये तब कुछ ही दिन हमारे साथ रहे। वे जानते थे कि यदि उन्हें उनके अनुकूल भोजन मिले और ध्यान के लिये प्रचुर समय मिले तो वे शिक्षा देने का काय अधिक उत्तम ढंग से कर सकते हैं। इसके साथ ही, वे उन लोगों से भी मुक्त रूप से मिल सकते हैं जो सहायता के लिये उनके पास आते हैं। इसलिये मेरी नानी ने उनके लिये एक छोटा सा किन्तु सुविधापूर्ण मकान ढूंढ़ने में उनकी सहायता की थी।

"स्वामीजी का व्यक्तित्व इतना कर्मठ और आकर्षक था कि अनेक महिलाएँ उनसे विमोहित हो जाती थीं और अपनी ओर उनका ध्यान खींचने का भरसक प्रयास करतीं थीं। वे उस समय युवा ही थे। यद्यपि उनमें गम्भीर आध्यात्मिकता और मन की अपूर्व शक्ति थी किन्तु वे सांसारिकता से नितान्त रहित प्रतीत होते थे। मेरी नानी इससे काफी चिन्तित हो जातीं और यह सोचकर परेशान हो उठती थीं कि कहीं स्वामीजी को अपनी सरलता के कारण किसी अवांछित परिस्थिति में न फँसना पड़े। इसलिये उन्होंने स्वामीजी को सावधान

करने का प्रयास किया। अपने लिये नानी की यह चिन्ता देखकर उनका हृदय भर आया और शिशुवत् सरलता से उनके हाथों को थपथपाते हुए स्वामीजी ने कहा, 'ओ श्रीमती लियोन ! ओ मेरी प्यारी अमरीकी माँ ! तुम मेरी तनिक भी चिन्ता मत करो। यह सच है कि मैं बहुधा बरगद की छाया में सोता हूँ और किसी दयालु किसान के द्वारा दिये गए अन्न को अपने भिक्षापात्र में लेकर क्षुधानिवारण करता हूँ, पर यह भी सच है कि मैं कभी कभी बड़े बड़े महाराजाओं के राजमहल में भी अतिथि के रूप में रहता हूँ और रात भर दासी मुझे मयूरपंख से हवा करती रहती है ! मैं इन प्रलोभनों का अभ्यस्त हो चुका हूँ और तुम्हें इस सम्बन्ध में परेशान होने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है ।' "

(क्रमशः)

कलकत्ते की बैठक के खर्च को पूरा करने के बाद जो बचे उसे दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए भेज दो, या जो अगणित दरिद्र कलकत्ते की मैलीकुचैली गलियों में रहते हैं, उनकी सहायता में लगा दो। पूजा का खर्च घटाकर एक या दो रुपये महीने पर ले आओ। प्रभु की सन्तानें भूख से मर रही हैं...केवल जल और तुलसीपत्र से पूजा करो और उसके भोग के निमित धन को उस जीवित प्रभु के भोजन में खर्च करो, जो दरिद्रों में वास करता है। तभी प्रभु की सब पर कृपा होगी।

— स्वामी विवेकानन्द
(पत्रावली से)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरदचन्द्र पेंढारकर

(१) हेय कौन ?

भगवान् बुद्ध विचरते हुए वैशाली के वन-विहार में आए। नगर में उनके पहुँचने की खबर मिनटों में फैल गई। नगर के बड़े-बड़े श्रेष्ठजन उनके दर्शनों को गए। हर किसी की इच्छा थी कि तथागत उसका निमंत्रण स्वीकार कर उसके घर भोजन करने पधारें। वैशाली की सबसे सुंदर गणिका आम्रपाली भी बुद्धदेव के तपस्वी जीवन को देखकर प्रभावित हो चुकी थी तथा उसे अपने घृणित जीवन से घृणा हो चुकी थी। उसने भी तथागत को निमंत्रण दिया और वे उसके घर हो भी आये। इसपर उनके शिष्यों ने बुरा मानकर उनसे स्पष्ट रूप से कहा कि उन्होंने एक गणिका के घर जाकर बड़ा ही अनुचित कार्य किया है।

यह देख तथागत उन सबसे बोले, "श्रावको ! आप लोगो को आश्चर्य है कि मैंने गणिका के घर कैसे भोजन किया। उसका कारण यह है कि यह यद्यपि गणिका है, किन्तु उसने अपने को पश्चाताप की अग्नि में जलाकर निर्मल कर लिया है। जिस धन को पाने के लिए मनुष्य मनौतियाँ करता है और न जाने क्या-क्या तरीके इस्तेमाल करता है, उसीको आम्रपाली ने तुच्छ मानकर लात मारी है और अपना घृणित जीवन त्याग दिया है। क्या अब भी उसे हेय माना जाय ?"

यह सुन सभी शिष्यों को पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने तथागत से क्षमा माँगी।

२. निज बल का परिणाम

एक बार श्रमण महावीर वन मे ध्यानस्थ खड़े थे। एक ग्वाला आकर उनसे बोला, "जरा देखते रहना, मेरे बैल यहाँ चर रहे हैं। मैं अभी आया।"

तपस्वी महावीर अपनी समाधि में लीन रहे। ग्वाला लौटकर आया, तो उसने देखा कि बैल वहाँ नहीं थे। वे चरते-चरते कहीं दूर निकल गये थे। उसने महावीर से प्रश्न किया, "मेरे बैल कहाँ हैं?" किंतु महावीर पूर्ववत् ध्यानावस्थित ही रहे। इसपर वह ग्वाला क्रोधित हो उन्हें मारने के लिए उद्यत हो गया। यह देख इन्द्रदेव घबड़ा गये कि कहीं वह अज्ञानी ग्वाला श्रमण महावीर को सताने न लगे। अतः वे ब्राह्मण-वेश धारणकर वहाँ आये और उन्होंने उस ग्वाले को डाँटा-फटकारा। इसपर वह ग्वाला वहाँ से भाग गया। फिर इन्द्रदेव महावीरजी से बोले, "भन्ते! आपके साधना-काल में ऐसे संकटों से आपकी रक्षा करने के लिए आपकी पवित्र सेवा में आपके समीप रहना चाहता हूँ।"

इसपर महावीर बोले, "देवेन्द्र! कोई तीर्थंकर किसी इन्द्र की सहायता से मोक्ष पाने नहीं निकलता। यह असंभव है कि मुक्ति किसी दूसरे की सहायता से प्राप्त की जा सके। कैवल्य तो केवल निज बल या पुरुषार्थ से ही मिलता है।"

३. ईश्वरीय जीवन की प्राप्ति का उपाय

एक धनी युवक ने प्रभु ईसामसीह से विनती की, "हे देव ! मुझे ईश्वरीय जीवन प्राप्त करने का उपाय बताएँ, क्योंकि इस दुनिया की चीजों से मुझे शांति नहीं मिल रही है ।"

इसपर ईसा बोले, "वत्स ! तुमने मुझे 'देव' शब्द में संबोधित किया है, किंतु 'देव' तो केवल परमात्मा ही है । मैं तो उसके कृपाराज्य का एक मामूली सेवक हूँ । तुम यदि ईश्वरीय और अमर जीवन प्राप्त करना चाहते हो, तो जाओ, अपनी सब चीजें बेच दो और अपनी सारी सम्पत्ति गरीबों को बाँट दो । यह सम्भव है कि कोई ऊँट सुई के नकुए में से निकल जाय, किंतु यह असम्भव ही है कि कोई धनी आदमी ईश्वर के राज्य में प्रविष्ट हो जाय !"

४. सहिष्णुता

रामकृष्ण परमहंस के पास एक भक्त आकर बोला, "भगवन् ! आपकी चादर फटी हुई है, आज्ञा हो तो नई ला दूँ ।"

"नहीं ! अभी वह कुछ दिन और काम दे सकती है," परमहंस देव बोले ।

"इस मंदिर के प्रबंधक कैसे हैं, जो आपकी आवश्यकताओं की ओर ध्यान ही नहीं देते !" भक्त पुनः बोला ।

"भाई ! तुम चिंता मत करो । वे मेरी पूरी-पूरी देखभाल करते हैं ।"

"अच्छा महात्मन् ! यदि आज्ञा हो तो दस सहस्र रुपया आपके नाम जमा करा दूँ। इसका सूद चालीस रुपये मासिक होगा। इस धन से आपका भोजन-कपड़ा आदि चल जाएगा।"

"नहीं भाई ! धन प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में काँटा है। मुझे इस लोभ में मत फँसाओ।"

"अच्छा भगवन् ! यह धन मैं आपके किसी संबंधी के नाम जमा कर देता हूँ। अब तो आपको कोई आपत्ति न होगी ?"

"भाई, इस चक्कर में मुझे मत डालो। 'यह धन मेरा है' यह अहंकार मुझे माँ से दूर कर देगा।"

श्रीरामकृष्ण देव एक सच्चे, त्यागी महात्मा थे। भला उन्हें धन का मोह कैसे होता ? भक्त उनके स्वभाव को जानता था। वह चुपचाप वापस चला गया।

५. परमात्मा की कृपा

एक बार संत उस्मान अपने शिष्य के साथ एक गली से निकल रहे थे कि किसी घर में से मालकिन ने राख से भरा बर्तन गली में उड़ेल दिया, जिससे सारी राख संत उस्मान पर जा गिरी। संत ने अपना सिर और कपड़े झाड़े और शांत भाव से हाथ जोड़कर वे बुदबुदाये, "दयामय प्रभु ! तुझे धन्यवाद !" और वे आगे बढ़ गये।

तब शिष्य ने पूछा, "गुरुदेव ! आपने परमात्मा को धन्यवाद क्यों दिया ? राख से आपके कपड़े खराब करने

के कारण आपको मकान-मालिक से शिकायत करनी थी ।"

संत ने उत्तर दिया, "मैं तो आग में जलाये जाने योग्य हूँ और प्रभु ने तो राख से ही निर्वाह कर दिया, इसलिए इस कृपा के लिए उन्हें धन्यवाद क्यों न दूँ ?"

६. सभ्यता और सज्जनता की कसौटी

काषाय वस्त्रधारी स्वामी विवेकानन्द अमेरिका के शिकागो नगर में सड़क से जा रहे थे। उनका यह वेश अमेरिका निवासियों के लिए कौतूहल की वस्तु था। पीछे आ रही एक अमेरिकन महिला ने अपने साथी पुरुष से कहा, "जरा इन महाशय की इस अजीब पोशाक को तो देखो !"

स्वामीजीने वह व्यंग्य सुना ! वे जरा रुके और मुड़कर उस महिला से बोले, "देवि ! आपके देश में दर्जी सभ्यता के उत्पादक और कपड़े सज्जनता की कसौटी माने जाते हैं। पर जिस देश से मैं आया हूँ, वहाँ कपड़ों से नहीं, मनुष्य के चरित्र से उसकी पहचान की जाती है।"

यह सुनकर वह महिला बड़ी ही लज्जित हुई।

७. रेखाओं से शिक्षा

स्वामी रामतीर्थ जब प्राध्यापक थे, तब उन्होंने एक दिन अपने छात्रों के सामने काले तख्ते पर खड़िया से एक रेखा खींचकर कहा, "इसे बिना मिटाये छोटी

कर दिखाओ।" एक कुशाग्रबुद्धि बालक ने उसी रेखा के समीप एक दूसरी बड़ी रेखा खींच दी और पहले खिची हुई रेखा को विना मिटाये ही छोटा करके दिखा दिया।

इस पर रामतीर्थ वड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, "छात्रो, यही क्रम तुम्हें अपने जीवन में अपनाना है। यदि तुम बड़े वनना चाहते हो, तो इसके लिए अपने आसपास के लोगों को पीछे धकेलने की जरूरत नहीं है। तुम बड़े काम करो और बड़े बनो। तब दूसरे तुमसे छोटे दिखाई देने लगेंगे।"

●

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुंगचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

आशा एक नदी है, उसमें इच्छारूपी जल है; तृष्णा उस नदी की तरंगें हैं, आसक्ति उसके मगर हैं, तर्क-वितर्क उसके पक्षी हैं, मोहरूपी भँवरों के कारण वह अति दुस्तर और गहरी है, चिन्ता ही उसके ऊँचे-ऊँचे किनारे हैं; धैर्यरूपी वृक्षों को वह नष्ट करने वाली है। जो शुद्ध चित्त योगीश्वर उसके पार चले जाते हैं, वे बड़ा आनन्द उपभोग करते हैं।

—भर्तृहरि (वैराग्यशतक)

भगिनी निवेदिता के प्रति

डा० प्रणवकुमार बनर्जी

अन्धकार रात्रि के
प्रकट अहं में
पथ की दिशा ले
खड़ा यह ध्रुवतारा ।
तम का अट्टहास
धरती भीता सी,
दिशाएँ ढँकी हुईं
दिग्भ्रम मीता सी—
ऐसे में अचंचल
प्रखरतम आत्मबल
हर पल जलता है,
जलन में पलता है,
ज्योतित औ' निवेदित
पर यह ध्रुवतारा ।

तुम
भारत के आकाश में
ज्योतित ध्रुवतारा थीं ;
प्राणों के बंजर में
गंगा की धारा थीं ।
तुमने
शत शत आघात सहकर
व्यथा में दिनरात रहकर
दलितों को करुणा दी,
देश को चेतनता दी ;
तम को आलोक दिखाया
अपना धर्म इतिहास कहाँ है
विस्मरण को याद दिलाया ।

हर झँझा झुका अन्त में—
आज तुम्हारा नाम अमर है
तुम स्वयं में थीं निवेदित
निवेदन का गान अमर है ।

प्रेम

घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'

•

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'– प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह आन्तरिकता का सूक्ष्मतम आभास और आनन्द की चरमावस्था है। इस अवस्था में स्वभावतः कंठ अवरुद्ध हो जाता है, वाणी मूक हो जाती है। हृदय प्रेम में इस प्रकार सराबोर हो जाता है कि उसमें कोई स्फुरणा ही नहीं रह जाती। प्रेम संसार की वासना-गंध से मुक्त मानव-त्याग की एक दिव्य अनुभूति है। यह आत्मा का आत्मा के प्रति पवित्र आकर्षण है। यह अन्तःकरण की कोमल भावना है जो अत्यन्त सरल और मधुर है। प्रेम जीवन का सौन्दर्य है, कृत्रिमता से परे शुद्ध और स्वाभाविक है। यह भक्ति की सर्वोत्तम विधि है।

प्रेम की दो अवस्थाएँ होती है– विरह और मिलन। प्रेमास्पद के वियोग में विरह और संयोग में मिलन का भाव प्रकट होता है। प्रेमी के लिए तो उसका प्रेमास्पद ही परम आत्मीय और सर्वस्व होता है। अतएव विरह की दशा में वह अपने प्राणवल्लभ को हृदय के कोमल आसन पर बिठाकर अन्तर्चक्षु से उसकी मोहिनी मूर्ति का दर्शन करता हुआ मत्त सा बना रहता है। प्रेमाश्रुओं से उसके कपोल भीगे रहते हैं। प्रेमास्पद के सुखद चिन्तन में निमग्न और उसके

स्वरूप में आत्मसात् होकर मानो वह समाधिस्थ सा हुआ रहता है। प्रेमी और प्रेमास्पद व्यक्त रूप में दो होते हुए भी उस चरमस्थिति में एक हैं। 'मैं' नाम की कोई वस्तु वहाँ होती ही नहीं, वहाँ बस 'तू ही तू' है। संतप्रवर कबीरदास ने कहा है –

जब मैं था तब तू नहीं, अब तू है मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं ॥

प्रेमातिरेक विरह के अन्तिम चरण में उदय होता है। ऐसी अवस्था में प्रेमी के रोम-रोम में उसके प्रेमास्पद का वास रहता है। दिशा-विदिशाओं में, प्रकृति के कण-कण में उसे अपने प्रियतम के ही दर्शन होते हैं। 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।' किसी कवि ने सच ही कहा है –

दर दीवार दरपन भये, जित चितवों तित तोहि।
काँकर पाथर ठीकरी, भये आरसी मोंहि ॥

जब प्रेम का रंग पूर्ण रूप से प्रेमी के ऊपर चढ़ जाता है तो उसे सब कुछ प्रेममय दीखने लगता है और वह स्वय भी प्रेममय हो जाता है। 'प्रेम ही ओढ़न प्रेम बिछावन प्रेम बना परिधान।' मानो सम्पूर्ण विश्व ही प्रेम की जीवन्त मूर्ति बनकर उसके सामने खड़ा हो जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण का तादात्म्य-लाभ कर ब्रज की विरहाकुल गोपिकाएँ उन्मत्त हो कहती हैं:–

'जित देखूँ तित श्याममयी है।'

भगवान के सन्देश-वाहक उद्धव के समझाने पर तो वे खीज ही जाती हैं और कहती हैं:—

ऊधो तुम भये बौरे पाती लेके आये दौरे,
पाती कहाँ राखों यहाँ रोम-रोम श्याम हैं।
प्राण भये श्याममय श्याम भये प्राणमय,
हिय में न जानि परे प्राण हैं कि श्याम हैं॥

प्रेम की कैसी अद्भुत स्थिति है यह! वहाँ तो सम्पूर्ण समर्पण और सम्पूर्ण आत्म-विस्मृति है। ब्रज की गोपियाँ तो प्रेम की उच्चतम प्रतीक हैं। सभी श्याम-मयी हैं; सभी भगवन्मयी हैं। शरीर, मन, प्राण और आत्मा सभी प्रियतम के चरणों में निवेदित हो जाते हैं, और उस प्रियतम भगवान् का संस्पर्श पाकर सभी चिन्मय बन जाते हैं। उनसे तब निज का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

मानस में गोस्वामी तुलसीदास अरण्यवासी सुतीक्ष्ण मुनि की प्रेम-दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

दिसि अरु विदिसि पंथ नहि सूझा,
को मैं चलेऊँ कहाँ नहि बूझा।
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई,
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

अपने आराध्यदेव भगवान् श्रीराम के आगमन का समाचार सुनकर सुतीक्ष्ण मुनि प्रेम में पागल हो उठे। 'आज मैं अपने स्वामी का दर्शन करूँगा; आज मेरी तपस्या सफल होगी," ऐसा सोचकर वे आत्म-विभोर

हुए जा रहे थे। न दिशा-विदिशाओं का ज्ञान रहता है उन्हें, न रास्ते का। 'मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ' यह भी समझ में नहीं आता। कभी आगे जाते हैं, कभी पीछे जाते हैं और कभी श्रीभगवान् का गुण गा-गाकर नृत्य करने लगते हैं। यही प्रेमोन्मत्त की दशा है। श्री रामकृष्ण परमहंस देव अहर्निश भगवती जगदम्बा के प्रेम में पागल रहा करते थे। यह तो रहा प्रेम का विरह-काल।

विरह की लम्बी अवधि व्यतीत होने पर जब प्रेमी अपने प्रियतम से मिलता है तो उसका प्रथम दर्शन करते ही वह संसार से दूर एक अतीन्द्रिय राज्य में प्रवेश कर जाता है। जहाँ न दृश्य है न द्रष्टा, न श्रोतव्य है न श्रोता, न वाणी है न वक्ता। एकमात्र परमानन्द की अनुभूति है वहाँ। पर तत्काल ही वह उस भूमिका से नीचे उतर आता है। प्रेम से उसका हृदय इतना गद्‌गद् होता है कि 'प्राणधन को कहाँ बैठाऊँ, क्या करूँ, कैसे करूँ' कुछ भी उसे नहीं सूझता। कुछ क्षण तो वह चित्र-लिखित सा किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़ा रहता है, फिर उसकी चेतना सुव्यवस्थित होती है और वह भीतर-ही-भीतर अत्यन्त पुलकित होता हुआ प्रेमास्पद की सेवा-शुश्रूषा का सारा प्रबन्ध करने में लग जाता है। उसके सभी कर्म प्रियतम के सुख और प्रसन्नता के लिए होते हैं। उसका जीवन-मरण सब कुछ प्रियतम के लिए ही होता है। वह उसके हाथों का यन्त्र बन जाता

है और उसके रूप-मकरन्द का भ्रमर।

प्रियतम का सुख ही उसका अपना सुख होता है और प्रियतम का दुख ही उसका अपना दुख। उसकी सम्पूर्ण कामनाएँ और समस्त स्वार्थ मानो प्रियतम में केन्द्रीभूत हो जाते हैं। इसी में वह स्वर्गिक आनन्द और परम सन्तोष का लाभ करता है। यही है प्रेम की मिलनावस्था।

मनुष्य यदि जड़वस्तु (शरीर-पदार्थादि) से अपनी कामना-पूर्ति के लिए प्रेम करता है तो वह स्वार्थभरा प्रेम अधूरा रहकर नष्ट हो जाता है, और नष्ट होकर वही दारुण दुःख का कारण बनता है। चूँकि शरीर और पदार्थ नाशवान हैं, अतः उनके साथ किया गया प्रेम भी नाशवान ही होता है। वह वासनामय प्रेम एकरस नहीं होता, उसमें उतार-चढ़ाव होते रहते हैं और कभी-कभी वह विनाशकारी भी सिद्ध होता है। इसलिए अनित्य वस्तुओं के साथ प्रेम करना श्रेयस्कर नहीं है। तो वह नित्य वस्तु क्या है जो नष्ट नहीं होती? वह एकमात्र ईश्वर है। सृष्टि का नियामक, विश्व का आधार। उसी के साथ प्रेम करना अभीष्ट है। यह प्रेम सदानन्दमय और अक्षम है। संत कबीर ने कहा है :—

छिनहिं चढ़ै छिन उतरै, वह तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय॥

प्रेम सौदे की वस्तु नहीं है। धन अथवा अन्य किसी माध्यम से इसका क्रय-विक्रय नहीं होता। यह वह

अनमोल रत्न है जो भगवत्कृपा से प्राप्त होता है, और इसके एक बार प्राप्त हो जाने पर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। भगवत्कृपा का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब अपना अहंकार और मनोविकार सभी ईश्वरार्पण कर देता है तभी वह भगवत्कृपा का पात्र बनता है।

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहिं रुचै, सीस देइ लै जाय॥

प्रेम में स्वार्थ विष के समान है और निःस्वार्थता अमृततुल्य। निःस्वार्थ प्रेम का रसामृत पान कर प्रेमी अमर हो जाता है और लोक में उसकी कीर्ति छा जाती है। अतः प्रेम के लिए ही प्रेम करना चाहिए, स्वार्थ के लिए नहीं। जो प्रेम की भाषा भली-भाँति जानता है, प्रेम का मर्मज्ञ है, वही सच्चा पण्डित है। वही ज्ञानी है। केवल वासना-तृप्ति के लिए जो प्रेम करता है वह प्राणी तो नरक का कीड़ा ही है।

तीर्थराज प्रयाग से श्री भरत जी ने यह वर माँगा था :–

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहऊँ निरवान।
जनम जनम रति राम पद, यह वरदान न आन॥

भक्त की दृष्टि में भगवत्प्रेम के सामने मोक्ष भी तुच्छ है। उसे कोटि जन्म लेने की चिन्ता नहीं है, पर प्रत्येक जन्म में प्रभु का प्रेम मिलता रहे, यही उसकी वाञ्छा है। प्रेम के लिए वह मोक्ष को भी ठुकरा देता है।

धन्य है भक्त और उसका भगवत्प्रेम !

प्रेम ही वास्तविक अस्तित्व है। प्रेम के बिना सब निःसार है। यह सृष्टि-चक्र प्रेम के सूत्र में ही बँधा चल रहा है। प्रेम के रिक्त होने पर प्रकृति में महाप्रलय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। प्रेम ही ईश्वर है, ईश्वर ही प्रेम है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था:–

'प्रेम मिलाता है, प्रेम एकत्व स्थापित करता है। सभी एक हो जाते हैं। माँ सन्तान के साथ एकत्व प्राप्त करती है; परिवार नगर के साथ एकत्व प्राप्त करता है। यहाँ तक कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही प्राणिमात्र के साथ एकीभूत हो जाता है। क्योंकि प्रेम ही वास्तविक अस्तित्व है। प्रेम ही स्वयं भगवान है और यह सब कुछ प्रेम का ही विभिन्न विकास है। प्रेम ही स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से प्रकाशित है।'

प्रेम, प्रेम, बस केवल प्रेम !

●

नमो यस्य वशे तश्य भवेत्सर्वं जगद्वशे।
मनसस्तु वशे योऽस्ति स सर्वजगतो वशे॥

–जिसने अपने मन को वश में कर लिया उसने संसार भर को वश में कर लिया, किन्तु जो मनुष्य मन को न जीतकर स्वयं उसके वश में हो जाता है, उसने सारे संसार की अधीनता स्वीकार कर ली।

स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि

(१)

शुक्रवार, चार जुलाई सन् १९०२ ई. की रात्रि को लगभग नौ बजे रामकृष्ण मिशन के समस्त संन्यासियों, भक्तों और देश-देशान्तर के असंख्य नरनारियों पर अकस्मात् ही भीषण वज्रपात हो गया। उन्होंने सुना कि विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द ने देहत्याग कर दिया है। स्वामीजी द्वारा समय समय पर दिये गये संकेतों और विशेषकर अन्त के निकट किये गये कार्यों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें अपनी मृत्यु का पूर्वाभास था और वे स्वयं को तथा अपने निकट सहयोगियों को इसके लिये तैयार कर रहे थे। किन्तु खेद तो यह है कि कोई भी व्यक्ति इन संकेतों को समझ नहीं पाया था और इस दुखद घटना के लिये तैयार नहीं था।

फरवरी सन् १९०२ ई. में वाराणसी से लौटने के बाद स्वामी विवेकानन्द ने अपने समस्त गुरुभाइयों एवं संन्यासी शिष्यों को देखने की तीव्र इच्छा व्यक्त की। सभी को, यहाँ तक कि जो विदेशों में थे उन्हें भी बुलाया गया। कई आये, पर कुछ लोग कार्यवश न आ सके। यदि उन्हें इस आह्वान के प्रयोजन का किंचित् भी आभास होता, तो वे सब कुछ छोड़कर दौड़ पड़ते।

जैसे जैसे समय बीतता गया, स्वामीजी अपने को मठ के कार्यों से धीरे धीरे अलग करने लगे ताकि अन्य

लोगों को कार्य करने की स्वतंत्रता मिल सके। वे अधिकाधिक अन्तर्मुखी होने लगे और उनका अधिकतर समय ध्यान में बीतने लगा। मृत्यु से लगभग एक सप्ताह पहले स्वामीजी ने बंगाली पंचाग मँगाया और उसे बड़े ध्यान से देखा, मानो किसी विशेष कार्य के लिये तिथि निश्चित कर रहे हों। महासमाधि से तीन दिन पहले, मठ के अहाते में टहलते हुए उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी प्रेमानन्दजी को गंगा के किनारे एक स्थान की ओर इंगित करते हुए कहा, "मृत्यु के बाद मेरा अन्तिम संस्कार इस स्थान पर करना।" (उसी स्थान पर आज 'स्वामी विवेकानन्द मदिर' स्थापित है।) बुधवार को स्वामीजी ने अपने हाथों से अपने शिष्यों को भोजन कराया और भोजन के बाद हाथों को धोकर तौलिये से पोंछा। इसपर उनकी प्रमुख शिष्या भगिनी निवेदिता ने कहा, "यह सेवा तो मुझे आपके लिये करनी चाहिये, स्वामीजी, न कि आपको हमारे लिये।" स्वामीजी ने गंभीर वाणी में उत्तर दिया, "क्या ईसा मसीह ने अपने शिष्यों के पैर नहीं धोये थे?" यह सुनकर भगिनी निवेदिता के मुख से ये शब्द निकलते-निकलते रुक गये, "लेकिन वह तो ईसा का अन्तिम दिन था!!" इन विभिन्न घटनाओं से प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने निश्चय ही अपने अन्त का पूर्व संकेत कर दिया था।

महासमाधि के दिन स्वामीजी के कार्य एवं व्यवहार अन्य दिनों से भिन्न ही थे। वे उस दिन दूसरे दिनों की

अपेक्षा कुछ पहले जाग गये, और चाय पीने के बाद ठाकुरघर में प्रविष्ट हुए। वे प्रायः सबके साथ ध्यान किया करते थे, किन्तु उस दिन अकेले ही सारी खिड़कियाँ और दरवाजे बन्द करके तीन घंटे तक लगातार ध्यान करते रहे। जब बाहर निकले तो मधुर स्वर में श्यामा संगीत गुनगुना रहे थे। सीढ़ी से उतरकर वे मठ के प्रांगण में टहलने लगे। स्वामीजी बहुत गंभीर मुद्रा में थे और सहसा उनके मुख से शब्द निकल पड़े, "अगर दूसरा विवेकानन्द होता तो समझ पाता कि इस विवेकानन्द ने क्या किया है! भविष्य में कई विवेकानन्द जन्म लेंगे!!"

स्वामीजी दिन का भोजन प्रायः अन्य लोगों के साथ ग्रहण नहीं करते थे, किन्तु उस दिन उन्होंने सबके साथ भोजन किया। यही नहीं, उन्होंने भोजन में आनन्द भी लिया, जो उनके स्वभाव से भिन्न था। अन्य दिनों की अपेक्षा उस दिन वे अपने आपको अधिक स्वस्थ अनुभव कर रहे थे। तत्पश्चात् उन्होंने स्वामी शुद्धानन्दजी को एक संस्कृत श्लोक के अर्थ के बारे में निर्देशन दिया। फिर थोड़ा विश्राम करने के बाद लगभग तीन घंटे तक मठ के ब्रह्मचारियों को लघुकौमुदी व्याकरण पढ़ाते रहे। इसके बाद वे स्वामी प्रेमानन्दजी के साथ काफी दूर तक टहलते हुए गये और एक वैदिक महाविद्यालय की स्थापना पर चर्चा करते रहे।

सन्ध्या के आगमन के साथ ही स्वामीजी का मन

अन्तर्मुखी होने लगा। सन्ध्या आरती के समय वे अपने कमरे की खिड़की से एकटक दक्षिणेश्वर मंदिर की ओर देखते हुए "मन चलो निज निकेतने" यह गीत गुनगुनाते रहे। यह वही गाना था जिसे स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण से पहली भेंट के समय भावविभोर होकर गाया था और जिसे सुनकर श्रीरामकृष्ण गहरी समाधि में डूब गये थे। तत्पश्चात्, वे कमरे में लगभग एक घंटे तक ध्यान करते रहे। इसके बाद वे अपने सेवक ब्रह्मचारी को पंखा झलने का आदेश देकर पलंग पर लेट गये। लगभग नौ बजे उनका हाथ काँपा, मुँह से हल्की सी आवाज निकली और सिर तकिये पर लुढ़क गया। सेवक घबड़ाकर अन्य लोगों को बुलाने के लिये दौड़ा। वरिष्ठ संन्यासियों ने आकर देखा तो स्वामीजी का शरीर निष्प्राण पड़ा था, किन्तु किसी को भी सहसा विश्वास नहीं हुआ कि स्वामीजी ने शरीर को छोड़ दिया है। वे इस अवस्था को गहरी समाधि समझकर अपने मन को समझाने लगे और स्वामीजी के होश में आने की प्रतीक्षा करने लगे। इसी बीच डाक्टरों को बुलाया गया। उन्होंने शरीर में चेतना लाने के सभी संभव प्रयत्न किये पर सब व्यर्थ। अन्त में डाक्टरों ने मृत्यु का कारण हृदयगति का रुकना, अथवा मस्तिष्क में खून की नली का फटना इत्यादि बताया, किन्तु मठ के संन्यासियों का दृढ़ मत था कि स्वामीजी ने अपनी इच्छा से समाधि में प्राणों का त्याग कर दिया है।

(२)

सरसरी तौर से देखने पर स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु एक आकस्मिक घटना ही प्रतीत होती है। वे कुछ वर्षों से दमा, मधुमेह और शरीर पर सूजन आ जाना इत्यादि रोगों मे पीड़ित रहे थे। अमरनाथ की यात्रा के समय उनका हृदय भी स्थायी रूप से दुर्बल हो गया था। भले ही मृत्यु के कुछ महीने पूर्व से उनके स्वास्थ्य में सुधार था, तो भी दीर्घकाल तक इस प्रकार की व्याधियों द्वारा पीड़ित रहने के कारण अचानक हृदय-गति के रुक जाने अथवा मस्तिष्क की रक्तवाहिनी नली के फट जाने से मृत्यु हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु इसके अलावा भी क्या स्वामीजी की महासमाधि का कोई रहस्य है ?

जो लोग श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द की जीवनियों से अवगत हैं, वे जानते होंगे कि श्रीरामकृष्ण ने समाधि-अवस्था में प्राप्त एक अनुभव का वर्णन करते हुए एक बार कहा था—"एक दिन देखता हूँ कि मन समाधि में ज्योतिर्मय मार्ग से ऊपर उठता हुआ विभिन्न भाव-राज्यों को लाँघकर ज्योतिर्मय अखंड के राज्य में प्रविष्ट हुआ। वहाँ साकार कुछ भी नहीं था, केवल दिव्य देहधारी, ज्योतिसम्पन्न, ज्ञान और पुण्य, त्याग और प्रेम के मूर्तरूप सात श्रेष्ठ ऋषि समाधिस्थ बैठे थे। एकाएक उस ज्योतिमंडल का एक अंश घनीभूत होकर एक दिव्य शिशु के रूप में परिणत हो गया। उस

देवशिशु ने एक ऋषि के गले को अपनी सुकोमल बाँहों में लपेटकर उनसे कहा, 'मैं जा रहा हूँ, तुम्हें भी आना होगा।' ऋषि ने कहा तो कुछ नहीं पर प्रेमपूर्ण नेत्रों से हृदय की सम्मति व्यक्त कर दी। नरेन्द्र को देखते ही मैंने समझ लिया कि यह वही ऋषि है।" श्रीरामकृष्ण ने यह भी भविष्यवाणी की थी कि "जिस समय नरेन्द्र जान जायगा कि वह कौन है, उसी समय वह अपनी इच्छा से देह का त्याग कर देगा।" यहाँ पर यह स्मरणीय है कि सन् १८९८ ई. में विदेश-यात्रा से लौटने के बाद स्वामीजी ने अपने विदेशी एवं कुछ अन्य शिष्यों के साथ काश्मीर की यात्रा की थी। इस अवसर पर उन्होंने अमरनाथ के भव्य हिम-शिवलिंग के दर्शन किये थे तथा उन्हें देवाधिदेव अमरनाथ से इच्छामृत्यु का वर प्राप्त हुआ था।

पहली बार जब श्रीरामकृष्ण की कृपा से स्वामी विवेकानन्द को निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हुई थी तब परमहंसदेव ने उनसे कहा था, "जो तू चाहता था, माँ की कृपा से वह तुझे प्राप्त हो गया। जिस प्रकार खजाना पेटी में बन्द रहता है, उसी प्रकार अब तेरा यह अनुभव भी बन्द रहेगा और इसकी चाबी मेरे पास रहेगी। तुझे बहुत कार्य करने हैं। जब तू मेरा काय समाप्त कर लेगा तब ताला खोल दिया जायगा।" पाठकों को यह तो ज्ञात ही होगा कि स्वामीजी ने अपनी छोटी सी आयु में कितने महान् कार्य किये। युगाचार्य के रूप

में उन्होंने संसार को एक नवीन संदेश प्रदान किया एवं मानवजाति के कल्याण के लिये एक नूतन विचारधारा का सूत्रपात किया। निर्विकल्प समाधि की अनुभूति के बाद साधारण साधक अपनी देह को अधिक समय तक बचाकर नहीं रख पाते। केवल ईश्वरकोटि के व्यक्ति ही विश्व के कल्याण के लिये थोड़ा सा सात्विक अहंकार रखकर कार्यरत रहते हैं। स्वामीजी ने भी अपने में 'सेवा का अहं' छोड़ रखा था जिसके कारण ही वे यह सब कार्य कर सके। इस बात को स्वीकार करते हुए वे प्रायः कहा भी करते थे, "सेवाकार्य मेरी कमजोरी है। जब यह भी दूर हो जायेगी तब यह शरीर नहीं रहेगा !"

श्रीरामकृष्ण की भविष्यवाणी तथा स्वामी विवेकानन्द के उद्‌गारों को यदि सत्य माना जाय तो स्वामीजी की मृत्यु का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। वे सप्तर्षि-मंडल के एक ऋषि थे अथवा किसी अन्य दिव्य लोक के प्राणी थे जो मानवता के कल्याण के लिए ईश्वर-निर्दिष्ट योजनानुसार अवतरित हुए थे। जबतक वे इस कार्य को करते रहे, तबतक वे अपने दैवी स्वरूप से अनभिज्ञ से रहे और अपने आप को एक आवरण में भुलाये रखा। कार्य की समाप्ति पर, उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण की कृपा से माया का वह झीना सा आवरण भी हट गया और उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो गया। मृत्यु के कुछ ही दिनों पहले अपने एक संन्यासी गुरुभाई द्वारा पूछे जाने पर कि क्या उनको यह ज्ञान हो गया है कि वे

कौन हैं, स्वामीजी ने कहा था, "हाँ, अब मैं जान गया हूँ!"

महासमाधि के काफी पहले स्वामीजी को यह कहते सुना गया था कि वे अधिक नहीं जियेंगे। भगिनी निवेदिता से उन्होंने कहा था कि वे अपने जीवन के चालीस वर्ष पूरे नहीं कर पायेंगे। कुमारी जो मेक्लिओड द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर स्वामीजी ने जो उत्तर दिया था वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने कहा था, "बड़े वृक्ष की छाया में छोटे पौधे नहीं पनप पाते। मुझे दूसरों के लिए स्थान रिक्त कर देना चाहिये!"

अपनी महासमाधि के लिये स्वामीजी ने जो दिन चुना था, वह था चार जुलाई—संयुक्त राज्य अमेरिका का स्वाधीनता दिवस। सन् १८९८ ई. के इसी दिन, अर्थात् अपनी मृत्यु के ठीक चार वर्ष पहले स्वामीजी अपने कतिपय अमेरिकन शिष्यों के साथ काश्मीर का भ्रमण कर रहे थे। उस समय, अमेरिका का स्वाधीनता दिवस मनाने के लिये एवं अमेरिकन शिष्यों को सुखद आश्चर्य प्रदान करने के लिये स्वामीजी ने 'चौथी जुलाई के प्रति' नाम से एक कविता की रचना की थी। इस कविता में अमेरिकन स्वाधीनता के अभिनन्दन के साथ साथ, स्वामीजी की अनन्त में लीन होकर चिर-स्वाधीनता प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा की झलक भी मिलती है। क्या यह मात्र संयोग ही था, अथवा इसके पीछे भी कोई गूढ़ रहस्य था?

●

कर्मसंन्यास और कर्मसमर्पण

शान्ती गुप्ता, एम. ए.

यह संसार एक विस्तृत कर्मभूमि है। इसमें जन्म लेकर यह देहाभिमानी जीव अज्ञान से आच्छादित होकर क्षुद्र विषयों की लालसा से तरह तरह के कर्म करता रहता है। प्रकृति के गुणों से बँधा होने के कारण वह विवश होकर सात्विक, राजस और तामस कार्य करता है तथा उन कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता है। वह कभी तो सात्त्विक कर्मों के द्वारा प्रकाशबहुल स्वर्गादि लोक प्राप्त करता है, कभी राजसी कर्मों द्वारा दुःखमय रजोगुणी लोकों में जाता है, जहाँ उसे तरह तरह के कर्मों का क्लेश उठाना पड़ता है, और कभी तमोगुणी कर्मों के द्वारा शोकबहुल तमोमयी योनियों में जन्म लेता है। इस प्रकार अपने कर्म और गुणों के अनुसार देवयोनि, मनुष्ययोनि अथवा पशु-पक्षी योनि में जन्म लेकर वह अज्ञानान्ध जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री और कभी नपुंसक होता है। जिस प्रकार बेचारा भूख से व्याकुल कुत्ता दर-दर भटकता हुआ अपने प्रारब्धानुसार कही डंडा खाता है और कहीं भात खाता है, उसी प्रकार यह जीव चित्त में नाना प्रकार की वासनाओं को लेकर ऊँचे-नीचे मार्ग से ऊपर, नीचे अथवा मध्य के लोकों में भटकता हुआ अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता रहता है।

इस प्रकार जन्म से लेकर जब तक व्यक्ति इस संसार में जीवित रहता है उसे, विवश होकर ही सही कर्म तो करने ही पड़ते हैं। बिना कर्म किये उसका निस्तार नहीं। हाँ, साधु-संन्यासियों की बात और है, जो संसार के सभी कर्मों से उपरत होकर एकान्त वन्य प्रान्त में त्याग और तपस्यामय जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें न शरीर सजाने के लिए वस्त्रों की आवश्यकता होती है और न जीभ के स्वाद को पूर्ति के लिए विविध व्यञ्जनों की। तन ढँकने के लिए वृक्षों की छाल या मृगचर्म और भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए वन के कन्दमूल ही पर्याप्त हैं। उन्हें ईश्वराराधन रूपी कर्म को छोड़कर किसी प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं रहती। वास्तव में कर्मों का संन्यास केवल वे व्यक्ति हो कर सकते हैं जिन्होंने ससार में दु:ख-बुद्धि करके उसे क्षणभंगुर समझकर त्याग दिया है और सभी कर्मों को छोड़कर केवल भगवान् के भजन रूपी कर्म में ही अपने जीवन को लगा दिया है।

परन्तु संसार में रहते हुए कोई भी व्यक्ति कर्मों का संन्यास नहीं कर सकता। यह अवश्य हो सकता है कि वह अशुभ कर्म न करे, शुभ कर्म ही करे, परन्तु उससे भी व्यक्ति का निस्तार नहीं। शुभ कर्मों के फल-स्वरूप उसे स्वर्ग आदि दिव्य लोकों की प्राप्ति होगी। परन्तु शुभ कर्म रूपी पुण्य के क्षय होने पर उसका पतन निश्चित ही है, क्योंकि शुभ कर्म रूपी पुण्य के प्रताप से

ही उसे वहाँ रहने का सुयोग प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं ।

अतः सृष्टि के प्रत्येक मानव को कर्म करने पड़ते हैं और उनके अनुरूप फल भी भोगने पड़ते हैं। जिस प्रकार किसान अपने खेत में जिस वस्तु का बीज बोता है–चाहे वह फल का हो, सब्जी या अनाज इत्यादि का उस बीज के अनुरूप ही उसकी फसल तैयार होती है, उसी प्रकार शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप ही मानव को सुख-दुःख इत्यादि फल प्राप्त होते हैं।

यदि यह कहा जाये कि उन दुःखों को दूर करने का उपाय करने से उनसे छुटकारा भी तो मिल सकता है, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक- इन तीन प्रकार के दुःखों में से किसी भी एक से जीव का सर्वथा छुटकारा नहीं हो सकता। इसकी जो तात्कालिक निवृति है वह ऐसी ही है जैसे कोई सिर पर भारी बोझा ढोकर ले जाने वाला पुरुष उसे सिर से हटाकर कंधे पर रख ले। इससे सिर का दुःख दूर होने पर भी कंधे पर तो उसका भार आ ही जाता है। इसी प्रकार यदि किसी उपाय से मनुष्य एक प्रकार के दुःख से छुट्टी पाता है तो दूसरा दुःख आकर उसके सिर पर सवार हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्न में होने वाला स्वप्नान्तर उस स्वप्न से सर्वथा छूटने का उपाय नहीं है उसी प्रकार कर्मफल-भोग से सर्वथा छूटने का उपाय केवल कर्म नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म और

कर्मफल दोनों अविद्यायुक्त होते हैं।

इसलिए जब कर्म करने ही हैं तो उनको इस प्रकार क्यों न किया जाये कि उनका कर्मपना ही नष्ट हो जाए। वास्तव में कर्म तो वही है जिससे श्रीहरि को प्रसन्न किया जा सके और विद्या भी वही है जिससे भगवान् में चित्त लगे। इसके लिए संत-जनों ने एक बहुत ही सुगम मार्ग हम सबके कल्याण के लिए खोज निकाला है जिसके द्वारा व्यक्ति कर्म भी करता रहता है परन्तु उसके अभिमान से बँधता नहीं। वह मार्ग है प्रत्येक कर्म को 'भगवदर्पण बुद्धि' से करना—प्रत्येक कर्म और उसके फल को भी भगवान् को अर्पित कर देना। मन में किसी प्रकार की इच्छा-अनिच्छा न रखकर निष्काम भाव से संसार के प्रत्येक कार्य को इस प्रकार करना कि यदि उसमें सफलता प्राप्त हो तो हर्षित न हो और विफलता मिलने पर शोक से अभिभूत न हो। मन में यह भाव रखकर तथा आसक्ति और मोह त्यागकर कर्म करना कि 'मैं भगवान् के आदेशानुसार प्रत्येक कार्य को सम्पन्न कर रहा हूँ। सब कुछ भगवान् का ही है जैसे वे उचित समझते हैं, वैसा ही मुझे निमित्त बनाकर करवाते हैं। उसकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है। इसमें मेरा अपमान कुछ नहीं, सब उनका ही है।' इस प्रकार की भावना रखकर कार्य करने से मनुष्य मोह में नहीं फँसता और कर्मों के अभिमान से पृथक रहता है। न तो वह सफलता मिलते पर हर्ष से विभोर हो उठता

है और न असफलता प्राप्त होने पर विवेक-बुद्धि त्यागकर शोक-मोह में वशीभूत होता है। वह हर स्थिति में परमानन्द का अनुभव करता है। संसार के दुःख और क्लेश उसका स्पर्श भी नहीं कर पाते। प्रत्येक कर्म को भगवान् को समर्पित करने के कारण वह नैष्कर्म्य स्थिति प्राप्त करता है और प्रारब्ध-भोग के समाप्त होने पर पुनः कर्म के पचड़े में नहीं पड़ता।

अपने सभी कार्य भगवान् को समर्पित कर देने से वे ही कर्म अक्षय फल प्रदान करने वाले हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक बहुत ही सुन्दर परन्तु सत्य कथा है जिससे कर्म-समर्पण की महिमा भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है।

काशी में भगवान् के प्रसिद्ध मंदिर में एक नाऊन (नाई जाति की स्त्री) मंदिर के जगमोहन को लीपने का काम करती थी। उसने संत जनों के मुख से सुना कि अपने सब कार्य और वस्तुएँ भगवान् को अर्पित कर देनी चाहिए। इस कथन के गूढ़तत्त्व से अनभिज्ञ अविद्यावश वह जगमोहन को लीपने के पश्चात् जो गोबर और मिट्टी बच जाती, उसे कूड़े के ढेर में कृष्णार्पण' कहकर फेंक देती और चली जाती। पुजारी महाराज जब अन्दर आते तो रोज भगवान् को मिट्टी और गोबर लगा हुआ देखते। वे चिन्तित होकर रोज उसे साफ करते, लेकिन कारण न समझ पाते। एक दिन छुपकर उन्होंने नाऊन को गोबर फेंकते और 'कृष्णार्पण'

कहते देखा। उन्होंने समझा नाऊन कोई जादू या मंत्र जानती है। यह इस तरह हमें नीचा दिखाकर पुरोहित पद से पृथक करना चाहती है। उन्होंने अभिमानवश पूजा और मंत्रों के द्वारा उसके अनिष्ट का उपाय सोचा। वह नाऊन बेचारी बीमार पड़ गई, धीरे-धीरे उसका रोग बढ़ता गया। अन्त समय निकट आ गया और मृत्यु भयंकर रूप में उसे अपने नजदीक आती दिखलाई पड़ी। उसने भय से नेत्र बंद कर लिये और अभ्यासवश उसके मुँह से 'कृष्णार्पण' निकल गया। इस शब्द के निकलते ही जादू का सा प्रभाव हुआ और उसे मृत्यु वापस लौटती दिखाई दी। वह तुरन्त अच्छी हो गई। सुबह पुजारी ने देखा भगवान् की स्वर्ण प्रतिमा खंड-खंड पड़ी थी। पुजारी ने यह सब बातें छिपकर देखी थीं। उन्होंने तत्काल समझ लिया कि यह नाऊन का जादू नहीं, 'कृष्णार्पण' की महिमा है जिससे आई हुई मृत्यु भी लौट गई। उन्हें अपनी भूल का आभास हुआ और भविष्य में वे भी कृष्णार्पण बुद्धि से अपने समस्त कार्य भगवान् को निवेदित करते हुए करने लगे।

भगवान् के प्रति कर्म समर्पित कर देने से मन में भाँति-भाँति के संकल्प-विकल्प नहीं उठते, इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं। मानव अपने प्रारब्ध-क्षय की बाट देखता हुआ ईश्वराराधन रूपी कार्य में सतत संलग्न रहता है, जिससे उसका देहाभिमान सर्वथा निवृत्त हो जाता है और वह पुनः इस संसार रूपी वैतरणी में नहीं

गिरता। वास्तव में यह संसार लहर के समान है। यदि इसमें 'भगवान् का नाम-स्मरण' और 'कर्म-समर्पण' रूपी दो बूंदें मिल जायें तो सम्पूर्ण जहर अमृत में परिवर्तित हो जाये।

जिस प्रकार शरीर में शैशव, युवावस्था और बुढ़ापा कभी स्थिर नहीं रहते, उसी प्रकार संसार के नित्यप्रति घटने-बढ़ने-वाले ऐश्वर्य और माया-विभूतियाँ मनुष्य को परमात्मा से मिलने के मार्ग में रुकावट डालती हैं। परन्तु यदि मानव संसार से अनासक्त होकर रहना सीख ले, किसी फल की इच्छा न रखे, तो उसकी समस्त कामनाएँ और अभिलाषाएँ स्वतः ही पूर्ण हो जायेंगी और इस संसार रूपी दुस्तर भवसागर से निकलने का मार्ग अनायास ही सुलभ हो जायेगा। अनासक्त रहकर कार्य करनेवाला मनुष्य संसार के नानाविध सुख-दुःखों की स्थिति से ऊँचा उठकर सर्वगुणातीत हो जाता है, उसे जन्म-मरण रूप संसार से मुक्ति मिल जाती है और वह निश्चय ही भगवान् का सामीप्य प्राप्त करता है। श्रीहरि के चरणों में उसे सुदृढ़ भक्ति की प्राप्ति हो जाती है जो सबका चरम फल है। इससे सुख-दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र साधन आत्मज्ञान उपलब्ध हो जाता है और आत्मज्ञान प्राप्त होने पर भूख-प्यास, भय, शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते। मुक्ति, और उससे भी अधिक भक्ति, उसके चरणों की दासी हो जाती है।

●

टॉमस - अ - कैम्पिस

डा. अशोक कुमार बोरदिया

(१)

" 'ईसा-अनुसरण'* ईसाई-जगत् की एक अत्यन्त आदरणीय निधि है। यह ग्रन्थ किसी रोमन कैथोलिक सन्त द्वारा लिखा गया है। लिखित कहना तो भूल होगी, इस पुस्तक का प्रत्येक अक्षर ईसा-प्रेम में पगे इस सर्व-त्यागी महात्मा के हृदय के रक्त बिन्दुओं से अंकित है। जिस महापुरुष की ज्वलन्त सजीव वाणी आज चार सौ वर्षों से कोटि-कोटि नर-नारियों के हृदय को अद्‌भुत मोहिनी शक्ति के बल से आकृष्ट करती रही है, कर रही है तथा करती रहेगी, जो महापुरुष आज अपनी प्रतिभा एवं साधना के बल पर शत-शत सम्राटों द्वारा भी पूजित है तथा जिसकी अलौकिक पवित्रता के सामने, आपस में सदैव से लड़ने वाला असंख्य सम्प्रदायों में विभक्त ईसाई समाज अपने पुराने वैषम्य को छोड़कर नतमस्तक हो रहा है, उसने इस पुस्तक में अपना नाम तक नहीं दिया! और भला दे भी क्यों ? जिसने समस्त पार्थिव भोग-विलास और जागतिक मान-प्रतिष्ठा को विष्ठा की भाँति त्याग दिया, वह क्या कभी क्षुद्र नाम का भिखारी हो सकता है ? बाद के लोगों ने अनुमान करके 'टॉमस-

---

* Imitation of Christ

अ-कैम्पिस' नामक एक कैथोलिक सन्त को ग्रन्थकार निर्धारित किया है। इसमें कितनी सत्यता है, यह तो ईश्वर ही जाने, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे जगत्पूज्य हैं :" (स्वामी विवेकानन्द)

स्वामी विवेकानन्द द्वारा अभिनन्दित इस महान् सन्त का जन्म कोलोन्ज के निकट कैम्पन नामक ग्राम में सन् १३७९ या १३८० ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम जॉन हेमरकन था। वे एक लुहार का काम करते थे तथा माता गेरट्रुड छोटे बच्चों के लिये एक स्कूल चलाया करती थीं। तेरह वर्ष की उम्र में टॉमस को हॉलैण्ड के डेवेन्टर नगर में एक स्कूल में भरती किया गया। यह स्कूल 'सामान्य जीवन के बन्धुओं एवं भगिनियों' के समाज द्वारा संचालित था। इस पाठशाला में लगभग सात वर्ष तक रह कर टॉमस ने लौकिक अध्ययन और आध्यात्मिक जीवन दोनों में ही उल्लेखनीय प्रगति की।

ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल में जो भक्ति और आध्यात्मिक चेतना जरूसलेम में पनपी थी, उसे चौदहवीं शताब्दी में फिर से जगाने का प्रयास उस समय हॉलैण्ड, डेनमार्क आदि देशों में किया जा रहा था। डेवेन्टर इसी ईसाई नवजागरण का केन्द्र था। इस कार्य का संगठन ल्फोरेन्टिस रेडवन नामक एक कर्मठ व्यक्ति कर रहे थे। इन्होंने अपने प्रिय शिष्य टॉमस के आध्यात्मिक विकास में विशेष रुचि ली।

सन् १३९९ ई. के शिशिर में अपना अध्ययन

समाप्त कर १९ वर्ष की अल्प आयु में ही टॉमस ने 'आर्डर आफ सेंट आगस्टाइन' में प्रवेश किया। इसी समय उन्हें संन्यास में दीक्षित किया गया और वे माउन्ट सन्त एग्नीस के मठ में, जिसके महन्त उन्हीं के ज्येष्ठ भ्राता थे, रहने लगे। सन् १४१३ ई. में तैंतीस वर्ष की उम्र में वे पादरी बना दिये गये। तब से लेकर अपनी मृत्यु पर्यन्त ५८ वर्ष टॉमस ने इसी मठ में विभिन्न साधनाओं में व्यतीत किये। उन्होंने नवदीक्षितों के मार्गदर्शक, उप मठाधीश आदि विभिन्न पदों पर कार्य किया और वे सदा ही अपने साथियों को उत्साह और प्रोत्साहन प्रदान करते रहे। उनके पवित्र जीवन की ख्याति सुन कर लोग उनके पास धार्मिक उपदेश सुनने तथा अपनी कठिनाइयों का समाधान पाने आते। प्रत्येक अवसर पर वे उनसे सही मार्गदर्शन पाकर लौटते। उनका सबसे अधिक प्रभाव तो नये संन्यासियों पर पड़ता था, जो उनके वचनामृत का बड़ी आतुरता से पान करते थे। इन्हीं युवक सन्यासियों को दिये गये उपदेशों की प्रतिध्वनि हम 'ईसा-अनुसरण' में पाते हैं।

इसके अतिरिक्त, टॉमस मठ से लगे हुए गिरजे में भी प्रवचन दिया करते थे। उनके प्रवचनों का संग्रह दो पुस्तकों के रूप में सुरक्षित है सन्तों की जीवनियों के अतिरिक्त कुछ अन्य धार्मिक पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं। 'ईसा-अनुसरण' उनकी रचनाओं का केवल एक दशांश ही है।

तिहत्तर वर्ष तक धार्मिक जीवन व्यतीत करने के बाद टॉमस ने २५ जुलाई सन् १४७१ ई. को अपने पार्थिव शरीर का त्याग किया । उनकी देह को मठ के प्रांगण में ही दफनाया गया किन्तु लगभग दो शताब्दियों वाद उनके अवशेषों को निकालकर एक गिरजे के समीप स्थापित किया गया । सन् १८९७ ई. में उसपर एक स्मारक का निर्माण किया गया । किन्तु उनका वास्तविक स्मारक तो 'ईसा अनुसरण' ही है जिसके माध्यम से वे आज भी हजारों मुमुक्षुओं को प्रोत्साहन और मार्गदर्शन प्रदान कर रहे हैं ।

जब हम इस अद्भुत पुस्तक को पढ़ते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने मानों हमारे हृदय के भीतर झाँक कर देखा है तथा उसने हमारे मनोभावों को भली-भाँति परख लिया है । मानव-मन के इतने गहन व मार्मिक ज्ञान को टॉमस ने कैसे प्राप्त किया ? प्रश्न उठता है कि अपना सारा जीवन मठ की चारदीवारी के अन्दर व्यतीत कर देने वाला व्यक्ति मानव-मन का इतना गहरा ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है तथा उसमें उठने वाली अभिलाषाओं, निराशाओं एवं उसमें निरन्तर होने वाले द्वन्द्वों का इतना सजीव अंकन कैसे कर सकता है ? कारण यह प्रतीत होता है कि सभी वर्गों के अनगिनत लोग बरसों उनसे मिलते रहे और उनके समक्ष अपने हृदय को खोल कर प्रस्तुत करते रहे ।

वे प्रायः कहा करते थे, "चारों ओर मैंने शान्ति

पाने का प्रयत्न किया पर एक एकान्त कोने में एक छोटी सी पुस्तक के सिवाय और कहीं भी वास्तविक शान्ति मुझे नहीं मिल पायी।" ये उद्‌गार उनकी एकान्तवास की लालसा, आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति एवं गंभीर चिन्तन के स्वभाव के द्योतक हैं। बार-बार अपने कक्ष से वाहर निकलने के लिये बाध्य होने पर भी वे शीघ्र ही बाहरी कोलाहल से दूर, एकान्त में यह कहते हुए लौट जाया करते थे, "भाई, मुझे आज्ञा दो मेरे कक्ष में कोई मुझसे वार्तालाप करने के लिये मेरी बाट जोह रहा है।" टॉमस और उनके उस 'प्रेमी' के बीच जो बातचीत हुआ करती थी, वही हम 'ईसा-अनुसरण' के पृष्ठों में निबद्ध पाते हैं। उन वाक्यों में हम उस स्वर्गीय अनुभूति की एक झलक पाते हैं जो सन्त पुरुष प्रत्येक युग में ईश्वर-साक्षात्कार के फलस्वरूप प्राप्त करते हैं।

(२)

"यह जानने का प्रयत्न न करो कि अमुक बात किसके द्वारा कही गयी है, वरन् जो कुछ कहा गया है उस पर ध्यान दो।" टॉमस ने खुद ही हमें यह सलाह दी है। अतः भले ही 'ईसा अनुसरण' एक संन्यासी द्वारा रचित, प्रमुखतः संन्यासियों के लिये उपयोगी पुस्तक है एवं उसमें सामाजिक समस्याओं का हल नहीं है, फिर भी जिन शाश्वत सत्यों एवं सिद्धांतों का व्यावहारिक स्वरूप इस पुस्तक में अंकित है, वे नित्य प्रति के सांसारिक कार्यों में अवश्य उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

जो मनुष्य समाज का हित करना चाहता है उसे अनिवार्यत: ईश्वर की ओर अधिकाधिक अग्रसर होना होगा। टॉमस की यह मान्यता है कि जितने भी महान कार्य हुए हैं वे सभी प्रमुखत: श्रद्धा से प्रेरित थे। और इसीलिये वे अपनी पुस्तक में आभ्यन्तरिक जीवन के विकास का उपाय विस्तार से बतलाते हैं।

एक सौ चौदह अध्यायों में लिपिबद्ध यह पुस्तक चार भागों में विभक्त है। पहले भाग में आध्यात्मिक जीवन में सहायक नियमों से सम्बन्धित पच्चीस अध्याय हैं– जैसे, सत्य का महत्व, इन्द्रिय-निग्रह, स्वाध्याय, शास्त्रपाठ, अनासक्ति, इत्यादि। दूसरा भाग जो बारह अध्यायों का है आत्मविषयक चिन्तनोपयोगी उपदेशों का वर्णन करता है– जैसे, ईश्वर-प्रेम, अपना भार खुद वहन करना, निर्मल अन्त:करण का आनन्द इत्यादि। प्रथम भाग यदि नैतिक-नियमों पर टिप्पणी है तो दूसरे में चिन्तन की प्रणाली का दिग्दर्शन है। तीसरा भाग आन्तरिक सान्त्वना पर है जिसमें टॉमस ने मानो अपने और परमेश्वर के बीच हुए रहस्यमय वार्तालापों को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया है। पुस्तक का उनसठ अध्यायों वाला यह दीर्घ भाग परमपिता और पुत्र, भगवान् और भक्त के बीच होने वाले वार्तालाप के रूप में है। चौथा भाग 'सेक्रामेन्ट' अर्थात् ईसाई धार्मिक क्रिया-अनुष्ठानों के महत्व से सम्बन्ध रखता है।

प्रारम्भ में ही लेखक ने लक्ष्य का निर्धारण करके

उसके मार्ग की रूपरेखा खींच दी है। "यदि हम सचमुच आलोक पाने के इच्छुक हैं एवं हृदय के सब प्रकार के अन्धकार से मुक्त होने की आकांक्षा करते हैं तो ईसा की बातें हमें याद दिलाती हैं कि उनके जीवन और चरित्र का अनुसरण हमें अवश्य ही करना चाहिये।

"तभी सर्वोच्च ज्ञान तुम्हारा होगा जब तुम स्वर्ग-राज्य प्राप्त करने के लिये संसार से घृणा करोगे।"

"अतएव धन ढूँढना एवं उस नश्वर वस्तु में विश्वास स्थापित करना असार है। मान ढूँढ़ना अथवा उच्च पद प्राप्त करने की चेष्टा करना भी असार है। अन्त में अधिक दंड भोग कराने वाली शारीरिक वासनाओं के वश में होना तथा उनके लिये व्याकुल होना असार है।

"अपनी आत्मा की कल्याण-चिन्ता छोड़कर जो नक्षत्र-मण्डल की गतिविधियों का निरीक्षण करने में व्यस्त है, ऐसे अहंकारी पण्डित की अपेक्षा वह दीन कृषक जो विनीत भाव से ईश्वर की सेवा करता है, क्या निश्चय ही श्रेष्ठ नहीं है? अतः अधिक ज्ञान-लालसा को त्याग दो क्योंकि उससे चित्त विक्षिप्त हो जाता है और भ्रम हमें विमूढ़ कर देता है।"

हमें क्या करना चाहिये जिससे शान्ति और सुख प्राप्त हो? टॉमस-अ-कैम्पिस विनम्रता को इसका प्रथम उपाय बतलाते कहते हैं, "स्वयं को अपने यथार्थ रूप में जानो, अर्थात् अपने को अत्यन्त छोटा समझो यही सबसे मूल्यवान और उत्कृष्ट शिक्षा है।" "दूसरों की श्रेष्ठ

समझना और उनकी मंगलकामना करना ही ज्ञान एवं सम्पूर्णता का लक्षण हैं।" दूसरा उपाय है तितिक्षा, अर्थात् सब दुखों को चिन्ताविलाप रहित भाव से सहर्ष स्वीकार करना। वे कहते हैं, "प्रभु यीशु अपने स्वर्गीय राज्य के प्रेमियों को अधिक संख्या में पाते हैं पर ऐसे लोग बहुत कम हैं जो उनका क्रूस (उनके निमित्त कष्ट-विपदाएँ) उठाना चाहते हों। सभी लोग उनके साथ आनन्द करना चाहते हैं परन्तु ऐसे लोग कम हैं जो उनके निमित्त क्लेश सहने से प्रसन्न हों।...

"जो परमेश्वर की निष्काम सेवा करना चाहता है ऐसा मनुष्य कहाँ मिलेगा ?...

"क्रूस (कष्ट-विपदाएँ) उठाना, क्रूस से प्रेम करना, देह को कष्ट देना और वश में करना, आदर-सम्मान का का त्याग करना, दुर्वचनों को प्रसन्नता से सहना, अपने को तुच्छ समझना और दूसरों से तुच्छ समझे जाने का अभिलाषी होना, समस्त प्रकार की विपत्ति सहना और और संसार में किसी प्रकार की सम्पत्ति की इच्छा न रखना—यह मनुष्य का स्वभाव नहीं है।... यह सब करना मनुष्य के बस की बात नहीं पर मसीह के अनुग्रह से निर्बल शरीर में ऐसा गुण उत्पन्न होता है कि जिस विषय से भयातुर होना और भाग जाना उसका स्वभाव है, मन के उत्साह के कारण वह उसका सामना करता है और उसे प्रिय समझने लगता है।"

मौन एवं एकान्तवास को टॉमस-अ-कैम्पिस बहुत

महत्व देते हैं। यह उचित भी है, क्योंकि उन्हीं के शब्दों में, "जिसको मनुष्य की दृष्टि से दूर घर पर रहना प्रिय है, केवल वही बाहर निकलने में सुरक्षित है। जिसको मौन रहना प्रिय है, केवल उसी के भाषण करने में भय नहीं है।" अतः "यदि तू हृदय के यथार्थ आनन्द को प्राप्त करने का इच्छुक है तो अपने एकान्त गृह में प्रवेश कर और जगत् के कोलाहल से दूर रहने के लिये अपने मन के कपाट बन्द कर, क्योंकि लिखा है कि अपने आसन पर बैठकर मन में वार्ता कर और मौन रह। जो पदार्थ बाहर प्राप्त नहीं होता है वह तुझे मन-मन्दिर में प्राप्त होगा।... मौन और शान्ति में भक्तों की आत्मा उन्नत होती है और शास्त्रों के गुप्त रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करती है।"

संसार की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में तथा सैकड़ों संस्करणों में प्रकाशित यह बहुमूल्य पुस्तक सर-लता, सहिष्णुता, विनम्रता धैर्य, संयम इत्यादि विषयों पर इसीप्रकार लिखे गये हृदयग्राही उपदेशों से ओतप्रोत है। इसका प्रत्येक वाक्य उद्धरित करने योग्य है। स्वामी विवेकानन्द ने श्री प्रमदादास मित्र को इस पुस्तक को पढ़ने का सुझाव देते हुए लिखा था "यह एक अद्भुत ग्रन्थ है। ईसाइयों में भी त्याग वृत्ति, वैराग्य और दास्य-भक्ति के कितने ऊँचे उदाहरण हैं! . . . कदाचित् यह पुस्तक आपने पहले पढ़ी हो। यदि न पढ़ी हो, तो कृपया अवश्य पढ़िये।"

●

सती जरत्कारु

शमीककुमार शृंगी ने क्रोध से जलते हुए शाप दिया, "हे दिग्दिगन्त! साक्षी हो कर सुनो। जिस अधर्मी राजा परीक्षित ने मेरे तपस्वी पिता के गले में मृत सर्प की माला पहनायी है, आज से सातवें दिन सर्पदंश मे ही उसकी मृत्यु हो जाय !"

तपस्वी ऋषि का शाप सत्य सिद्ध हुआ। सातवें दिन नागराज तक्षक ने परीक्षित को डस लिया और उसकी मृत्यु हो गयी। परीक्षित के वंश में बालक जनमेजय ही बच रहे। वयस्क होने पर उनका राजतिलक हुआ। वृद्ध मंत्रियों से उन्होंने अपने पिता की नागराज तक्षक द्वारा हत्या का हाल सुन रखा था। राज्यारूढ़ होने पर जनमेजय के मन में अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेने की कामना जागी। इसके लिए उन्होंने सर्पयज्ञ का आयोजन किया। यज्ञकुण्ड की प्रज्वलित अग्नि में सर्पगण गिर गिरकर भस्म होने लगे।

नागों में हाहाकार मच गया। नागराज वासुकि व्याकुल हो उठे। सर्पयज्ञ में नागगण भस्म होते जा रहे थे। उनके अंत:करण को यह प्रश्न मथ रहा था कि क्या उनके वंशधरों की प्राणरक्षा का कोई उपाय नहीं है ?

व्याकुलता और विक्षोभ के इन क्षणों में उनके

मनश्चक्षु के सामने वर्षों पूर्व की एक घटना कौंध गई।

परिव्राजक ऋषि जरत्कारु का यह नियम था कि वे किसी एक स्थान पर स्थायी निवास नहीं करते थे। सतत तपस्या में लीन वे भ्रमण किया करते। एक बार वे किसी गहन वन में से हो कर जा रहे थे। जाते-जाते मार्ग में उन्हें एक पुराना अंधा कुआँ दिखा। उत्सुकता वश वे उस कुएँ के पास गए। वहाँ उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। कुछ तपस्वीगण उस कुएँ में उल्टे लटके हुए हैं। उनके पैर वृक्षों की पतली जड़ों में फँसे हैं। उन जड़ों को भी चूहे कुतर रहे हैं।

कुएँ में लटके तपस्वी बड़े दुखी थे। उनकी दुर्दशा देख जरत्कारु का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने सस्नेह तपस्वियों से पूछा, "महात्मन्! आप लोग कौन हैं? इस अंधकूप में इस प्रकार उल्टे क्यों लटके हैं?"

उन तपस्वियों ने कहा, "ब्रह्मचारी! हम लोग जरत्कारु के हतभाग्य पितृगण हैं। हमारे वंश में अब केवल वही एक संतान शेष है। उसने भी विवाह नहीं किया है तथा गृहस्थ-धर्म का पालन किये विना ही वह संन्यास लेकर संसार-त्याग करना चाहता है। उसके पश्चात् हमारी वंश-परंपरा लुप्त हो जायेगी। हमें कोई पिंड देने वाला न रह जायेगा और हम लोग इस कूप में गिर कर नर्क के भागी होंगे।"

पितृगणों की बातें सुन जरत्कारु को दुख हुआ उन्होंने पितरों को अपना परिचय दिया और निवेदन

किया, "महात्मन् ! आप लोग जिस उपाय से इस दुख से छूट सकते हैं वह मुझसे कहिए। यदि वह उपाय मेरी सामर्थ्य के भीतर होगा तो अवश्य ही मैं आपके दुखों को दूर करने की चेष्टा करूँगा।" पितरों ने कहा, "वत्स ! तुम विवाह के द्वारा पुत्र उत्पन्न कर हमें इस दुख से मुक्त कर सकते हो।"

जरत्कारु ने आजन्म ब्रह्मचारी रह कर भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन यापण करते हुए तपस्या करने का निश्चय किया था। किन्तु अब पितरों की मुक्ति का दायित्व उन पर आ पड़ा। उन्होंने पितरों से कहा, "महात्मन् ! मैं इन्द्रियसुख के लिए तो कभी विवाह नहीं कर सकता। किन्तु आप लोगों की मुक्ति के लिए मैं कुछ शर्तों के साथ विवाह करने को प्रस्तुत हूँ। मैं उसी कन्या से विवाह करूँगा जो मुझे अनायास भिक्षा में मिल जाय, जिसके भरण-पोषण का दायित्व मुझ पर न हो, जिसका नाम मेरे ही नाम के सदृश्य हो और जो कभी भी मेरी अवहेलना या अपमान न करे। मेरी यह प्रतिज्ञा होगी कि जिस दिन वह मेरी अवहेलना या अपमान करेगी उसी दिन उसी क्षण मैं उसका परित्याग कर दूँगा।"

इन कठिन शर्तों के साथ पितरों को विवाह करने का वचन दे कर जरत्कारु वहाँ से प्रस्थान कर गये। वे परिव्राजक के रूप में बहुत दिनों तक यहाँ - वहाँ भ्रमण करते रहे पर उनकी शर्तों के अनुसार कोई कन्या उन्हें न मिली।

नागराज वासुकि की बहन बड़ी रूपवती और गुण शीला थी। राज महल के विपुल वैभव में उसका लालन-पालन हुआ था। वह अब विवाह के योग्य हो गई थी। किंतु नागराज वासुकि अभी तक उस वर की खोज न कर सके थे जिसके साथ बहन का विवाह करने पर उनके नागवंश की रक्षा हो पाती।

माता कद्रू के शाप से मोचन का उपाय बताते हुए प्रजापति ने उनसे कहा था, "अपनी बहन का विवाह यदि तुम उसके ही सदृश नाम वाले परिव्राजक तपस्वी से कर सको तो उनके द्वारा उत्पन्न पुत्र सर्पयज्ञ से होने वाले विनाश से तुम्हारे कुल की रक्षा कर सकेगा।" संयोग की बात है कि राजकुमारी का नाम भी जरत्कारु ही था।

यात्री-ब्राह्मणों से नागराज वासुकि को परिव्राजक तापस जरत्कारु का समाचार मिला। उन्होंने तपस्वी की खोज के लिए चारों दिशाओं में अनेक गुप्तचरों को भेजा। गुप्तचरों के एक दल ने लौटकर महाराज को तपस्वी जरत्कारु का समाचार दिया। राजा वासुकि अपनी वहन को लेकर उस वन की ओर चल पड़े जहाँ तपस्वी के होने का समाचार मिला था।

वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा, एक अत्यन्त क्षीणकाय तपस्वी ब्राह्मण शिलाखण्ड पर बैठा है। उसके केश वड़े-बड़े और उलझे हुए हैं। उसके शरीर पर नाम मात्र का वल्कल वस्त्र है। शरीर की विशेष चिन्ता न करने

के कारण वह धूलि-धूसरित हो रहा है। वर्ण श्याम हो गया है। उसके पास भिक्षापात्र के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है।

तपस्वी का स्वरूप देख कर नागराज क्षण भर के लिए स्तब्ध रह गए। उनके अन्तर ने प्रश्न किया— क्या यही परिव्राजक जरत्कारु हैं ? क्या इसीसे मुझे अपनी पुष्प जैसी सुकुमार बहन का परिणय करना होगा ?

एक बार उनका मन काँप उठा ! उन्होंने अपनी बहन की ओर देखा।

राजकुमारी भी निर्निमेष दृष्टि से परिव्राजक की ओर देख रही थी। भाई को अपनी ओर ताकते देख वह कुछ लज्जित सी हुई। किन्तु दूसरे ही क्षण भाई की दृष्टि में उसने उनके मन को पढ़ लिया। राजकुमारी जरत्कारु ने भी तो माता का शाप और उससे मुक्त होने के उपाय की बात सुन रखी थी।

नागराज के मुखमण्डल पर निश्चय-अनिश्चय के भाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे। राजकुमारी जरत्कारु के मन में भी दारुण द्वन्द्व चल रहा था। एक ओर सम्पूर्ण नागवंश की रक्षा का प्रश्न था और दूसरी ओर विपुल राजवैभव का सुख और उपभोग था। यदि राजकुमारी तपस्वी परिव्राजक का वरण नहीं करती तो उसके भ्रातृवंश का सर्वनाश निश्चित था, और यदि वह मुनि का वरण करती है तो उसे स्पृहणीय राजसुख

छोड़कर कष्टपूर्ण कठोर तपस्विनी का जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। इतना ही नहीं, तपस्वी जरत्कारु की एक और भी कठिन शर्त थी– यदि उनकी पत्नी कभी भी कोई ऐसा कार्य करे जो ऋषि को अप्रिय लगे तो वे तत्काल ही उसका त्याग कर चले जाएँगे।

स्वार्थ पर परार्थ ने विजय पाई। कर्त्तव्य और बलिदान यशस्वी हुए। राजकुमारी ने तपस्वी को वरण करना स्वीकार कर लिया।

राजा वासुकि ने विधिपूर्वक अपनी बहन का विवाह परिव्राजक जरत्कारु से कर दिया। ऋषि सपत्नीक राज-महल में ही रहने लगे; क्योंकि उनकी यह भी प्रतिज्ञा थी कि वे पत्नी के भरण-पोषण का भार वहन नहीं करेंगे।

उनका जीवन राजमहल में भी तपस्यापूर्ण ही रहा। ऋषि पत्नी जरत्कारु ने भी तपस्विनी का जीवन अपना लिया। वह सदैव तत्परतापूर्वक पति की सेवा में लगी रहती और इस बात का ध्यान रखती कि कहीं कोई ऐसा कार्य न हो जाय जो पति को अप्रिय लगे।

दिन बीतते गए। एक दिन ऋषि कुछ क्लान्त से प्रतीत हो रहे थे। अपराह्ण बीत चुका था। वे अपनी पत्नी की गोद में सिर रखकर लेट गए। उन्हें नींद आ गई। धीरे-धीरे सन्ध्या होने लगी। पत्नी ने देखा कि ऋषि के सन्ध्या-वन्दन का समय हुआ चाहता है पर वे अभी तक सोये हुए हैं। वह धर्मसंकट में पड़ गई।

यदि वह पति को नींद से उठाती है तो अप्रिय कार्य होने का भय है। फलस्वरूप, सम्भव है, पति सदैव के लिए उसका त्याग कर दे। दूसरी ओर यदि वह पति को नहीं उठाती है तो उनके सन्ध्या-वन्दन में व्यवधान होगा और वे धर्मच्युत हो जाएँगे।

सती जरत्कारु के समक्ष दो ही विकल्प रह गए थे। पति को नींद से न उठाकर उन्हें धर्मच्युत करना अथवा पति को उठाकर उनके धर्म की रक्षा करना और स्वयं परित्यक्ता का कष्टपूर्ण जीवन वरण कर आजीवन विरहाग्नि में तिल-तिल कर जलना।

सती ने दूसरा विकल्प ही स्वीकार लिया और पति को नींद से जगा दिया। उठते ही ऋषि क्रोध से काँपने लगे और पत्नी से कहा, "आज तुमने मेरा अप्रिय कार्य किया है अतः इसी क्षण मैं तुम्हारा त्याग करता हूँ।"

सती जरत्कारु की आँखों से आँसुओं की धार बह चली। उन्होंने रुँधे कण्ठ से पति से निवेदन किया, "नाथ! आपका अप्रिय करने की इच्छा से मैंने आपको नींद से नहीं जगाया। सन्ध्या हो रही थी, ऐसी स्थिति में यदि आप सोये रह जाते तो सन्ध्या-वन्दन न कर पाते और इस प्रकार आप अधर्म के भागी होते। आप अधर्म के भागी न हों इस लिए मैंने आपको नींद से उठाया है। मुझे क्षमा करें"

ऋषि जरत्कारु ने कहा, "मेरे वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकते। मैंने तुम्हारा त्याग कर दिया है, अतः

अब मैं यहाँ एक क्षण के लिए भी नहीं ठहर सकता।" यह कह कर वे वहाँ से चले गए।

जिस समय ऋषि ने सती जरत्कारु का त्याग किया, उस समय वे गर्भवती थीं। कालान्तर में उनके गर्भ से महान् तेजस्वी कुमार आस्तिक का जन्म हुआ। इन्होंने महाराज परीक्षित के सर्पयज्ञ से नागवंश की रक्षा की थी।

युग - धर्म

श्रीकृष्ण कुमार त्रिवेदी, सोमालिया

लगभग आठ दशक पूर्व विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी ने "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान्निबोधत" का उद्घोष किया था। उनका यह उद्घोष किसी धर्मविशेष, जातिविशेष, समाजविशेष या राष्ट्रविशेष के लिए न होकर सम्पूर्ण विश्व के लिए था, समस्त धर्मावलम्बियों के लिए था, सम्पूर्ण मानवता-प्रेमियों के लिए था। महापुरुषों की वाणी स्थान और कालक्रम से बाधित नहीं होती। व्यक्ति अपने गुणों से ही महान बनता है; महानता लाद देने से नहीं। जीवन में ऐसा बहुत कुछ है जो भावगम्य है, तर्क न तो उसे प्रतिष्ठित ही कर सकते हैं और न समाप्त ही। स्वामीजी को लम्बा जीवन नहीं मिला था पर ३९ वर्षों की अल्पायु में ही उन्होंने वह सब कुछ पूरा कर दिया जिसे करने के लिए शायद दूसरों को शताब्दियाँ लग जातीं। कूपमण्डूकता से ऊपर उठकर अपनी प्रखर ज्ञान-रश्मियों से उन्होंने विश्व को आलोकित किया। उनका यह शाश्वत और चिरन्तन आलोक युग-युग तक मानव का मार्गदर्शन करता रहेगा। उसकी दृष्टि दुराग्रह-दूषित नहीं थी; सभी धर्मों में उन्हें सत्य का आभास मिलता था और सत्य में ही उनकी निष्ठा थी। उन्हें विश्वास था कि विश्व को अध्यात्म से ही जीता जा सकता है, आयुधों और सेनाओं से नहीं। हिटलर तथा मुसोलिनी जैसे नृशंस, युद्धपिपासु, क्रूरकर्मा

महत्वाकांक्षियों ने उनके इस विश्वास को प्रमाणित कर दिया है। "प्रेम ही घृणा को परास्त कर सकता है, घृणा प्रेम पर कदापि विजय नहीं पा सकती"- यह सत्य आज भी उतना ही जाज्वल्यमान है जितना कि स्वामीजी के समय में था।

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुपुत्र इस दिशा में प्रयत्नशील रहा है कि वह विश्व को प्रभु का पावन क्रीड़ास्थल बना सके। विश्व के प्राचीनतम साहित्य का प्राचीनतम मंत्र "सत्यंवद" आज भी पुराना नहीं लगता और अब भी लक्ष-लक्ष चिन्तकों, उदारमना सज्जनों और शान्ति-सेनानियों का मूलमंत्र बना हुआ है। घृणा, द्वेष, हिंसा और अशान्ति के गहनतम तिमिर से सत्य और प्रेम के पुजारी जूझते ही रहे हैं और आज भी जूझ रहे हैं। पाषाण-प्रतिमाओं को भी द्रवित कर देनेवाले आराधकों ने पाषणवत् हृदयों से कभी हार नहीं मानी। गोलियों ने गाँधी और मार्टिन लूथर किंग के पार्थिव शरीरों को भले ही भस्मसात् कर दिया हो, पर उनके अप्रतिम और अजेय उद्‌गारों तथा कार्य-कलापों को स्पर्श करने का साहस कभी नहीं किया। समय के वज्रवत् वक्ष पर इन महापुरुषों ने अपना नाम स्वयं उत्कीर्ण कर दिया है; महाकाल उन नामों की परिक्रमा भर कर सकता है, उनके ऊपर छहरी धूल भर पोंछ सकता है और अपने अश्रु-जल से उन्हें अमरत्व ही प्रदान कर सकता है। विषपायी सुकरात, शूलीहत ईसा आज भी मुसकरा रहे

हैं और दिग्भ्रान्त मानव को दिशादान कर रहे हैं। चतुर्दश वर्षों तक वन-वन के कण-कण को पावन करने वाले भगवान् राम के चरण-कमल सदैव कोटि-कोटि नर-नारियों के आश्रयस्थल बने रहेंगे और जन-धन से सम्पन्न त्रैलोक्यविजयी दशाननों की खिल्लियाँ उड़ाते रहेंगे।

मानव के अस्तित्व का सम्पूर्ण इतिहास प्राप्य नहीं है, उसका केवल अंशमात्र उपलब्ध है पर उसे भी यदि निष्पक्षता से देखा जाये तो यह तथ्य स्वतःसिद्ध हो जाता है कि विश्व को श्मशान-भूमि में परिवर्तित करने की आकांक्षा रखने वालों के स्वप्न कभी साकार नहीं हुए। इतिहास के अध्ययन का शायद यही उद्देश्य है कि अतीत की त्रुटियों का निराकरण करके महापुरुषों के कार्य को आगे बढ़ाया जाये, और उन मूल्यों को प्रतिष्ठित किया जाये जो "सर्वभूतहिते रतः" हैं, जिन्हें संकीर्णता के ओछे बन्धन अपने में बाँधकर नहीं रख सकते और जो कठिनतम परिस्थियों से जूझते रहने की प्रेरणा देते हैं।

सत् और असत् का द्वन्द्व आज भी समाप्त नहीं हुआ। एक ओर कंस और शिशुपाल के वशधर अपने अधुनातन शस्त्रास्त्रों और मनोहारी भौतिक समृद्धियों के बल पर विश्व को नियंत्रित करने का प्रयास कर रहे हैं तो दूसरी ओर आज भी गोकुल में निष्कलुष सरसिज विकस रहे हैं। रंगभेद के आधार पर जहाँ श्वेत शासक अश्वेत जातियों पर अन्याय, आतंक और अनाचार की वृष्टि कर रहे हैं, वहीं गोवर्धनधारी कृष्ण अडिग आस्था

के साथ इस महावृष्टि का सामना कर रहे हैं।

प्रत्येक युग का अपना एक विशेष धर्म होता है जिसे युगधर्म कहा जाता है, उसकी प्रतिष्ठा का दायित्व उस युग में साँस लेने वाले सभी प्राणियों का होता है। हमारा यह युग भी हमसे कुछ अपेक्षा रखता है। पलायनवादिता या परमुखापेक्षिता से हम अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकेंगे। कर्त्तव्य के इस महायज्ञ में हमें उदार, संकल्पबद्ध और स्थिर मन से आहुति देनी है। विघ्नों का बाहुल्य हमें विमुख न कर सके, इसके लिए "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान्निबोधत" का अहर्निशि मनन करते रहना है।

●

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।
यंत्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान्कुलीनः॥

काट हुआ चंदन का वृक्ष गंध को नहीं छोड़ देता, बूढ़ा गजपति भी क्रीड़ा को नहीं छोड़ देता, कोल्हू में पेरी हुई ईख मधुरता नहीं छोड़ देती, दरिद्र होने पर भी कुलीन शीलादि गुणों को नहीं छोड़ देता।

— चाणक्य

तुला दान

संतोष कुमार झा

महाराज वृषदर्भ अपनी राजसभा में बैठे मंत्रियों और सेनापतियों आदि से राजकाज की चर्चा कर रहे थे।उनके सिंहासन के सामने सभाभवन का विस्तृत खुला भाग था। वहाँ से शुभ्र आकाश स्पष्ट दीख पड़ रहा था। राजा अभी चर्चा में लगे ही थे कि अकस्मात् आकाश से एक भयभीत थका हुआ कबूतर उनकी गोद में आ गिरा। राजा चौंक उठे। उन्होंने स्नेहपूर्वक कबूतर को उठा लिया और उसके शरीर पर हाथ फेर-कर उसे थपथपाया। राजा का कोमल स्पर्श पाकर भयभीत कपोत का मन कुछ शान्त हुआ। उसने आँखें खोलीं और देखा कि वह राजा के हाथों में सुरक्षित है।

सुरक्षा का अनुभव करते हुए कपोत ने कातर स्वर में कहा, "महाराज ! मेरी रक्षा कीजिए। मेरे प्राण संकट में है।"

राजा ने उसे सान्त्वना देते हुए अभयदान दिया और कहा, "कपोत, तुम डरो मत। तुम मेरी शरण में आये हो। मैं अपनी पूरी शक्ति से तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम निःसंकोच अपने भय का कारण बताओ।"

कपोत कुछ कहने ही जा रहा था कि एक क्रूर बाज भी उड़ता हुआ राजा की सभा में पहुँच गया। आते ही कर्कश स्वर में उसने राजा से कहा, "राजन् !

आप यह कबूतर मुझे दे दीजिए। यह मेरा आज का भोजन है। मैं भूखा हूँ। शीघ्र ही इसे मारकर मैं इसके मांस से अपनी भूख मिटाऊँगा। मैं बड़ी दूर से इसका पीछा करते हुए आ रहा हूँ।"

कपोत बाज की बातें सुनकर डर के मारे राजा की गोद में सिमट गया। वह भय से पुनः काँपने लगा। महाराज वृषदर्भ ने कपोत को पुचकारा और बाज से कहा, "पक्षीराज ! यह कपोत मेरी शरण में आया है। इसने मुझसे आश्रय माँगा है। मैंने इसे अभयदान दिया है। अतः इसकी प्राणरक्षा करना मेरा धर्म है। मैं इसे तुम्हें नहीं दे सकता।"

बाज ने कहा, "महाराज, आप कपोत की प्राणरक्षा कर मेरे प्राण लेना चाहते हैं। मैं भूख से व्याकुल हो रहा हूँ। यदि मुझे यह कपोत नहीं मिला तो मैं भूख से तड़प-तड़प कर मर जाऊँगा। मेरी मृत्यु का कारण बनना क्या आपके लिए उचित है ?"

राजा बोले, "पक्षीराज ! मैं तुम्हारी मृत्यु का कारण नहीं बनना चाहता। मैं तुम्हें भूखा नहीं रखना चाहता। मैं अभी तुम्हारे उचित आहार की व्यवस्था करा देता हूँ। कहो, तुम्हें किस पशु का मांस प्रिय है ? मेरी पशुशाला में सूअर, बकरे, भैंसे, आदि अनेक पशु हैं। इनमें से जिसका भी मांस तुम्हें प्रिय हो उसकी व्यवस्था कर दी जायेगी।"

बाज ने कहा, "राजन्, मैं इनमें से किसी भी पशु

का मांस नहीं खाता। मेरी भूख तो इस कपोत से ही मिट सकेगी। आप मुझे यह कपोत दे दें।"

राजा ने पुनः कहा, "बाज, तुम्हें अन्य और जो भी आहार प्रिय हो वह बताओ। मैं उसकी व्यवस्था कर दूँगा। किन्तु यह शरणागत कपोत तुम्हें न दे सकूँगा।"

इस पर बाज बोला, "राजन्, यदि आप मुझे कपोत नहीं देना चाहते तो मेरी क्षुधातृप्ति का एक ही उपाय है; किन्तु वह उपाय बड़ा कठिन है . . . ।"

राजा ने बीच ही में कहा, "पक्षीराज, तुम संकोच न करो। कपोत के अतिरिक्त जिस भी आहार से तुम्हारी क्षुधा शान्त हो सकती है वह मुझसे कहो। मैं अवश्य ही उस आहार की व्यवस्था करूँगा चाहे मुझे कितनी भी कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े।"

राजा की बातें सुनकर बाज बोला, "महाराज, सचमुच यदि आप मेरी क्षुधा शान्त करना चाहते हैं तो मुझे इस कपोत के वजन का मांस अपने शरीर से स्वयं काट कर दे दीजिए।"

धृष्ट बाज की यह शर्त सुनकर सभी सभासद सन्न हो उठे। सेनापतियों ने अपनी तलवार की मूँठों पर हाथ रख लिये। किन्तु राजा ने सभी को शान्त रहने का आदेश दिया और बाज से कहा, "पक्षीराज! यदि मेरे शरीर के मांस से तुम्हारी क्षुधा शान्त हो सकती है और इस निरीह कपोत के प्राण बच सकते हैं, तो मैं सहर्ष अपने शरीर का मांस देने को प्रस्तुत हूँ।"

राजा की आज्ञा से वहाँ एक तराजू लाकर रख दिया गया। उसके एक पलड़े पर कपोत को बिठा दिया गया। दूसरे पलड़े पर राजा ने अपने ही हाथों से अपने शरीर का कुछ मांस काटकर रखा, किन्तु तराजू का पलड़ा अभी कपोत की ओर ही झुका था। राजा ने पुनः अपने शरीर से थोड़ा मांस काटा और तराजू के दूसरे पल्ले पर रखा। किन्तु कबूतर का भार अभी भी अधिक था। राजा अपने अंग-प्रत्यंगों से मांस काट-काट कर तराजू पर चढ़ाने लगे, उनका सारा शरीर प्रायः मांस रहित हो गया किन्तु उतना मांस भी निरीह कपोत के भार के बराबर न हो सका! अन्त में राजा स्वयं ही उस तराजू के पलड़े पर चढ़ने को उद्यत हुए।

उसी समय आकाशमंडल में चारों ओर देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं। देवगण धन्य-धन्य की ध्वनि करते हुए पुष्प-वृष्टि करने लगे। बाज और कपोत वहाँ से अंर्तधान हो गए, किन्तु दूसरे ही क्षण सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुए देवराज इन्द्र तथा अग्निदेव वहाँ प्रकट हुए। इन्द्र ने अमृत सींच कर राजा वृषदर्भ को पुनः स्वस्थ कर दिया। राजा की देह दिव्य हो गई। देवराज में उन्हें गले से लगा लिया और उन्हें साधुवाद देते हुए कहा, "राजन्! तुम धन्य हो। बाज के रूप में मैं तथा कपोत के रूप में अग्निदेव तुम्हारे धैर्य और धर्म की परीक्षा ले रहे थे। तुम इस परीक्षा में पूर्णतः उत्तीर्ण रहे हो। जब तक संसार में सूर्य और चन्द्रमा

रहेंगे, तब तक तुम्हारी कीर्ति अक्षुण्ण रहेगी और लोग तुम्हारे अपूर्व चरित्र से प्रेरणा ग्रहण करते रहेंगे।"

यथासमय स्वधर्म-पालन में तत्पर महाराज वृषदर्भ को परम पद की प्राप्ति हुई।

महाभारत की यह कथा इस आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन करती है कि मनुष्य दूसरों की निःस्वार्थ सेवा द्वारा उसी परम पद को प्राप्त कर सकता है जिसे ज्ञानी ज्ञान से, योगी योग से और तपस्वी तपस्या से प्राप्त करता है।

●

भारत को सामाजिक अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले यह आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय। सर्वप्रथम, हमारे उपनिषदों, पुरानों और अन्य शास्त्रों में जो अपूर्व सत्य निहित हैं, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पृष्ठों से बाहर लाकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की नीरवता से दूर लाकर कुछ सम्प्रदाय विशेषों के हाथों से छीनकर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा, ताकि ये सत्य दावानल के समान सारे देश को चारों ओर से लपेट लें--उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सब जगह फैल जायें--हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सर्वत्र वे धधक उठें।

--स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न–मैंने एक बड़े प्रसिद्ध योगी से ध्यान की विधि सीखी और उसके पास १५ दिन तक रहा। उस समय सचमुच मुझे मालूम पड़ने लगा कि उन्नति बड़ी द्रुत है। उसके बाद अपने स्थान पर लौट आया। पर धीरे धीरे उन्नति का क्रम मन्द होने लगा। सोचने लगा कि योगीजी के सानिध्य के कारण ही मुझमें इस प्रकार प्रगति हुई थी। अतः लगभग ८ महीने बाद पुनः उनके पास जाकर रहा और पूरे एक महीने तक। पर प्रारम्भ में जो शांति और आनन्द मुझे मिला था, वह न मिल पाया ऐसा क्यों ? मेरे इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर योगीजी भी न दे सके। आप कुछ बता सकते हैं ? आगे कैसे बढ़ूं ?

—देवदास ढल्ला, नई दिल्ली

उत्तर–जो बात नयी है और पहले पहल मालूम होती है उसका आकर्षण विशेष होता है। मन का विशेष लगाव उसके साथ हो जाता है। आपने ध्यान के सम्बन्ध में एक नयी बात सीखी। उस नवीनता ने आपके मन को आकर्षित किया और एक नये प्रकार के आनन्द का अनुभव आपको हुआ। यह योगीजी के सान्निध्य का फल नहीं था बल्कि यह नवीनता का आकर्षण था। मन में हरदम नवीनता की चाह होती है। यह

तो साधारण सी बात है कि किसी भी नये परिवेश में मन विशेष रूप से प्रभावित हो जाता है। उदाहरणार्थ, कोई अच्छा दृश्य देखा और आपको बड़ा अच्छा लग गया। आप सोचने लगे कि यहीं यदि ७–८ दिन बिता दिये जायँ तो बड़ा अच्छा है। आप २ दिन भी नहीं बिता पाते कि आकर्षण कम होने लगता है और आप वहाँ से चल देना चाहते हैं। यह मन का स्वभाव है। मनुष्य यदि इसे जान ले तो वह अपने को बड़े-बड़े मानसिक दुखों से बचा ले सकता है।

उस दिन एक मित्र ने मुझसे कहा कि बीटल्स और बीटनिक्स निरुत्साहित होकर भारत से चले गये; वे योग सीखना चाहते थे, पर उनकी आशाएँ धूमिल हो गयीं। मैंने कहा यह तो होना ही था। उन्हें योग के रूप में एक नया आकर्षण मिला था। मन उधर झुका और झुकता गया। पर कब तक ? मन के सस्कार कब तक दबे पड़े रह सकते हैं ? नवीनता का आकर्षण भला कब तक हमारी दृढ़मूल प्रवृत्तियों को दबाकर रख सकता है ? वही बीटल्स के साथ भी हुआ। अब उन्हें कभी भी और कहीं भी वह आनन्द नहीं मिलेगा जो पहली बार ध्यान के अभ्यास से मिला था। हो सकता है, वे किसी दूसरे व्यक्ति के पास जायें और उसकी पद्धति में नवीनता देखें। पर वह नवीनता भी अधिक समय के लिये उन्हें बाँधकर नहीं रख सकेगी।

तात्पर्य यह है कि नवीनता का मोह छोड़ना है। आध्यात्मिकता के रास्ते पर आगे बढ़ने के लिए कोई 'शार्ट कट' (नजदीक का रास्ता) नहीं है। उसके लिए पूरा प्रयास करना पड़ता है। उसकी पूरी कीमत चुकानी पड़ती है। निष्ठा के साथ लगे रहना पड़ता है। मन तो बार बार उचाट होगा। उसे अरुचि होगी। पर उसे पुचकारकर, समझा-बुझाकर साधना में

लगाये रखना होगा। अध्यवसायपूर्वक लगे रहने पर अवश्य भगवान् की कृपा होगी और मन में धीरे धीरे ध्यान और साधना के लिए रुचि उत्पन्न होने लगेगी। जब तक ऐसी रुचि पैदा न हो जाय, तब तक मन के विरुद्ध लड़ाई ठाननी पड़ेगी। समय और स्थान निश्चित करके निर्दिष्ट प्रणाली के द्वारा साधना के क्रम को उसीप्रकार अटूट बनाये रखने का प्रयास करना पड़ेगा जैसे हम खाने-पीने और सोने के क्रम को अटूट रखते हैं। यही आगे बढ़ने का रास्ता है।

●

किसी ने श्रीरामकृष्ण देव के पास आकर कहा, "महाराज! बहुत दिनों से साधन-भजन में मैं लगा हुआ हूँ पर कुछ भी तो समझ में नहीं आया। हम लोगों का साधन–भजन करना वृथा है।" श्रीरामकृष्ण देव ने मुस्कराकर कहा, "देखो, जो खानदानी किसान हैं वे, यदि बारह वर्ष भी अनावृष्टि हो, तो भी हल चलाना नहीं छोड़ते। और जो पुश्तैनी किसान नहीं हैं, जो यह सुनकर कि किसानी में बहुत लाभ होता है, इस काम में लग जाते हैं– वे तो एक ही साल वर्षा न होने से किसानी का काम छोड़कर भाग जाते हैं। वैसे ही, जो सच्चे भक्त और विश्वासी होते हैं, वे यदि सारी आयु भी ईश्वर के दर्शन न पाएँ, तो भी उनका नाम और गुणगान करना नहीं छोड़ते।

— श्रीरामकृष्ण।

आश्रम समाचार

(१ मार्च १९६८ से १ जून १९६८ तक)

साप्ताहिक सत्संग

रविवासरीय गीता–प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने १०, १७, २४, ३१ मार्च तथा १४ और २८ अप्रैल को गीता पर ६ प्रवचन दिये और इस प्रकार इस सत्र का रविवासरीय सत्संग-कार्यक्रम २८ अप्रैल को समाप्त हुआ। यह सत्र रविवार २ जुलाई १९६७ से प्रारम्भ हुआ था और सत्र के अन्त तक स्वामीजी ने गीता पर कुल २८ प्रवचन किये। अभी गीता के अध्याय २ के अन्तर्गत २२ वें श्लोक तक चर्चा हो पायी है। रविवासरीय सत्संग का नया सत्र पुनः आगामी ७ जुलाई से ५॥ बजे सन्ध्या प्रारम्भ हो रहा है।

२१ अप्रैल को श्री प्रेमचन्दजी जैस की रामायण पर मधुर कथा हुई।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

१ मार्च को भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का १३३ वां जन्मदिवस था। ब्राह्म मुहूर्त से मंगल-आरती, प्रार्थना, ध्यान और भजन-गान के सामूहिक कार्यक्रम हुए। सन्ध्या समय पुनः प्रार्थना, आरती और भजन-गीत हुए। श्रीरामकृष्ण देव के जीवन-प्रसंग का पाठ भी हुआ।

३ मार्च को इस जयन्ती के उपलक्ष में सार्वजनिक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। सभा में प्रा. शमशुद्दीन (प्रशिक्षण महाविद्यालय), डा. जे. एन. दास (विज्ञान महाविद्यालय), डा. अशोक बोरदिया, श्री सन्तोष-कुमार झा तथा प्रा. देवेन्द्रकुमार वर्मा ने वक्ता के रूप में भाग

लिया। वक्ताओं ने भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के अलौकिक चरित्र के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला। स्वामी आत्मानन्द ने अपने अध्यक्षीय भाषण में श्रीरामकृष्ण देव की आध्यात्मिक साधनाओं का मूल्यांकन किया और हम साधारण लोग उसके तपःपूत अलौकिक अनुभूतिप्रधान जीवन से यत्किंचित् लाभ किस प्रकार उठा सकते हैं इसका दिग्दर्शन किया।

१९ मार्च को रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ संन्यासी श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज पहली बार इस आश्रम में पधारे। इसके पूर्व वे सन् १९५७ में जब रायपुर आये थे तब उन्हीं की प्रेरणा से श्रीरामकृष्ण सेवा समिति का गठन हुआ था। स्वामीजी ने आश्रम के कार्यों को देखकर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की और आश्रम की उत्तरोत्तर प्रगति के लिए आशीर्वाद प्रदान किया। उस दिन सन्ध्या उनके स्वागत में आयोजित समारोह में उन्होंने अपने मन के भावों को प्रकट करते हुए आश्रम के कार्यकर्ताओं को उनके सफल प्रयास के लिए बधाई दी। उन्होंने सर्वाधिक प्रसन्नता इस बात पर व्यक्त की कि आश्रम के कार्यक्रम में उन्हें युवावर्ग अधिक दिखाई दिया। स्वामीजी महाराज ने Sri Ramakrishna and the Spiritual Heritage of Humanity पर अत्यन्त सारगर्भित और प्रेरणाप्रद भाषण दिया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण युगाचार्य हैं और उन्होंने मानवता की आध्यात्मिक धरोहर को अपने जीवन की क्रियाओं के द्वारा संरक्षित और संवर्धित करके हमारे हाथों में सौंपा। आज विश्व को इस धरोहर की अतीव आवश्यकता है। उसके बिना वह जड़-यन्त्र अथवा पशुतुल्य बन जायेगा।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम

१३ मार्च को स्वामीजी आमन्त्रित होकर गोंदिया गये।

वहाँ गुजराती स्कूल के सभाभवन में उन्होंने भगवान् श्रीराम-कृष्ण, श्री माँ सारदा देवी एवं स्वामी विवेकानन्द के चित्रों का अनावरण किया। विद्यार्थियों और गण्यमान्य नागरिकों को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी ने बताया कि इन तीन महान् आत्माओं ने विश्व को क्या दिया है। विशेषकर विद्यार्थियों के सम्बन्ध में उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणादायी विचारों को रखा और 'बल', 'आत्मविश्वास' एवं 'निर्भीकता' के तत्वों को प्रतिपादित किया।

१७ मार्च को भिलाई में श्रीरामकृष्ण देव की १३३ वीं जयन्ती के उपलक्ष में सार्वजनिक सभा आयोजित की गई थी। प्राध्यापक शमशुद्दीन और श्री सन्तोष कुमार झा ने श्रीरामकृष्ण और माँ सारदा के जीवन और सन्देश पर चर्चा की। श्री शम-शुद्दीन ने बताया कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण सर्वधर्मसमन्वय के आचार्य हैं। श्री झा ने श्रीरामकृष्ण और श्री माँ के अवतार के दार्शनिक पक्ष की चर्चा की और बड़े सुन्दर रूप से ईश्वर और उसकी शक्ति के अवतरण की व्याख्या की। स्वामी आत्मानन्द ने अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए श्रीरामकृष्ण के अलौकिकत्व को परिस्फुट किया। ईश्वर के पास वे सभी रास्तों से जाते हैं और इस प्रकार उन उन रास्तों के पथिकों के लिए रास्ता साफ कर देते हैं। बहुत समय से जिस रास्ते पर कोई न चला हो वह अपने आप झाड़-झंखारों से बन्द हो जाता है। श्रीरामकृष्ण ने उन झाड़-झंखारों को साफ किया और उस-उस पथ को अपना कहने-वाले लोगों का आह्वान करते हुए कहा- 'अब तुम लोग बढ़े आओ, कोई भय नहीं है, मैंने स्वयं तुम लोगों के लिए रास्ता बना दिया है।'

२० मार्च को स्वामीजी स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज के साथ बिलासपुर में थे। वहाँ राघवेन्द्र सभाभवन में स्वामी

रंगनाथानन्दजी के स्वागत के उपलक्ष में हुए समारोह की उन्होंने अध्यक्षता की। २१ मार्च को वे दोनों अमलाई के ओरिएन्ट पेपर मिल्स में थे। २२ मार्च को चचाई बिजलीघर में सुन्दर सा कार्यक्रम हुआ।

९ अप्रैल को भिलाई सेक्टर ७ के राममन्दिर में राम-नवमी के उपलक्ष में आत्मानन्दजी का प्रवचन हुआ। १० और ११ अप्रैल को वे झारसुगड़ा में थे जहाँ गण्यमान्य नागरिकों ने श्री-रामकृष्ण देव का जन्म महोत्सव आयोजित किया था। ये दोनों दिन श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द पर स्वामीजी ने बड़े सुन्दर व्याख्यान दिये। १२ अप्रैल को २ बजे दिन को विद्यार्थियों, प्राध्यापकों और नागरिकों की एक बृहद सभा को स्वामीजी ने बुरला मेडिकल कालेज के प्रशस्त सभाभवन में सम्बोधित किया। वहाँ पर उन्होंने 'राजयोग और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान' पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण चर्चा की। उसी दिन रात को ८ बजे ब्रजरा-जनगर के ओरिएन्ट पेपर मिल्स के शिवमन्दिर के प्रांगण में उन्होंने 'विज्ञान के युग में धर्म का स्थान' इस विषय पर अत्यन्त युक्तियुक्त और विचारोत्तेजक व्याख्यान दिया। यह कार्यक्रम बृजराजनगर की 'साहित्य संगम' संस्था के द्वारा आयोजित था।

२२ अप्रैल को स्वामीजी भोपाल में थे। वहाँ श्रीरामकृष्ण आश्रम की स्थापना हुई और आश्रम के तत्वावधान में त्रिदिव-सीय कार्यक्रम आयोजित हुआ। प्रथम दिन यानी २२ अप्रैल को मध्यप्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री गोविन्दनारायण सिंह की अध्यक्षता में स्वामी आत्मानन्द ने 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' इस विषय पर मनोमुग्धकारी व्याख्यान दिया। २३ अप्रैल को वित्त मन्त्री श्री रामहित गुप्त की अध्यक्षता में वे 'गीता का कर्मयोग' पर बोले ओर २४ अप्रैल को राजस्व मन्त्री श्री लक्ष्मीनारायण-गुप्त की अध्यक्षता में उन्होंने 'आधुनिक मानव को श्रीरामकृष्ण का सन्देश' इस विषय पर चर्चा की। तीनों व्याख्यानों में भोपाल

के बुद्धिवादी लोग बड़ी संख्या में उपस्थित थे। स्वामीजी ने भी इन गूढ विषयों को सरल बनाकर श्रोताओं के समक्ष उपस्थित किया।

११ मई को भिलाई में और १२ मई को नन्दिनी में नारायण गुरु धर्म समाज की ओर से स्वामी आत्मानन्दजी के कार्यक्रमों का आयोजन था। स्वामी आत्मानन्द दोनों दिन 'वेदान्त' पर बोले।

१७ मई को स्वामीजी ने कुरुद (धमतरी) में चन्द्राकर कूर्मि समाज के पंचम वार्षिक अधिवेशन का उद्घाटन किया।

२७ मई से लेकर ८ जून तक रविशंकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् की ओर से 'वनवासी सेवा प्रकल्प' की योजना की गयी थी। इसका उद्घाटन समारोह २७ मई को संभागीय आयुक्त श्री एम. ए. खान द्वारा हुआ और स्वामी आत्मानन्द ने इस कार्यक्रम की अध्यक्षता की। २८ मई को बिलासपुर में श्रीरामकृष्ण सेवा समिति के तत्वावधान में ५।। बजे सन्ध्या स्वामीजी ने अध्ययन वर्ग का उद्घाटन किया और उसी दिन रात्रि ७।। बजे रेलवे के सभाभवन में श्री जमुनाप्रसाद वर्मा की अध्यक्षता में उन्होंने 'धर्म और विज्ञान' विषय पर व्याख्यान दिया।

३० मई से १ जून तक तीन दिन स्वामीजी मुंगेली तहसील के हलचल ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा करते रहे। सवर्ण और हरिजनों के बीच आपसी मनमुटाव के कारण जो भ्रांति लोगों में फैली हुई थी, उसे दूर करने के लिए शान्ति सेवा और सर्वोदय समाज ने मिलकर स्वामीजी के इस दौरे का आयोजन किया था। इसी के अन्तर्गत ३० मई को स्वामीजी धर्मपुरा में थे और ग्रामवासियों के समक्ष उन्होंने छत्तीसगढ़ी भाषा में 'धर्म काला कइथें' इस विषय सरल और मार्मिक चर्चा की। उसी

रात्रि मुंगेली की बृहद् जनसभा को उन्होंने सम्बोधित करते हुए गीता के कर्मयोग की व्याख्या की। ३१ मई की सुबह गुरुवाइन डबरी में उन्होंने 'मिलजुल के कइसे रही' इस पर अपने विचार प्रकट किये। उसी रात्रि लोरमी में 'आधुनिक मानव को श्रीरामकृष्ण का सन्देश' विषय पर अत्यन्त भावप्रवण प्रवचन दिया। २०-२६ गाँव के लोग बडी संख्या में स्वामीजी के दर्शनार्थ और उपदेश श्रवणार्थ वहाँ उपस्थित थे। १ जून की सुबह छिरहुटी में 'शान्ति से रहे के उपाय' पर स्वामीजी बोले। उस दिन अपराह्न में जरहागाँव में बड़े जोर-शोर से स्वामीजी का स्वागत किया गया। यहाँ पर 'जीवन की सफलता' विषय को लेकर उन्होंने सांगोपांग विवेचन किया कि जीवन की सफलता की कसौटी क्या है। उसी रात बिलासपुर आकर स्वामीजी नागपुर के कार्यक्रम के लिए रवाना हो गये।

श्रीरामकृष्ण सेवा समिति का समर्पण समारोह

७ अप्रैल, १९६८ को श्रीरामनवमी के शुभ पर्व में श्रीरामकृष्ण सेवा समिति, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के इतिहास में एक अविस्मरणीय घटना घटी। तब से ठीक ६ वर्ष पूर्व, १९६२ ई. की रामनवमी के दिन श्रीरामकृष्ण सेवा समिति ने अपने वर्तमान प्रांगण में प्रवेश किया था। २२ सितम्बर १९६६ को समिति की साधारण सभा ने मिलकर सर्वसम्मति से यह पारित किया था कि समिति अपनी समस्त चल और अचल सम्पत्ति को रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ को अर्पित कर, स्वयं को उसमें विलीन कर लेगी। इस बीच आवश्यक कार्यवाही चलती रही और उक्त रामनवमी के दिन यानी ७ अप्रैल, १९६८ को समिति ने एक भव्य समारोह का आयोजन किया। यह 'समर्पण समारोह' था। इस समारोह में रामकृष्ण मठ और मिशन के महासचिव, श्रीमत् स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज प्रमुख अतिथि के

रूप से पधारे थे। समिति के सचिव, स्वामी आत्मानन्द ने स्वामीजी महाराज का स्वागत किया और समिति के प्रारम्भ (२० जनवरी १९५८) से लेकर ७ अप्रैल १९६८ तक का प्रतिवेदन लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। तदनन्तर उन्होंने स्वामी गम्भीरानन्दजी के करकमलों में समिति की सारी चल और अचल सम्पत्ति समर्पित कर दी और इस प्रकार ८ अप्रैल १९६८ से समिति रामकृष्ण मिशन की एक मान्य शाखा बन गयी तथा उसका नाम 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम' हो गया। स्वामी गम्भीरानन्दजी ने समिति की चहुँमुखी प्रगति पर हार्दिक सन्तोष व्यक्त किया और उसके कार्यकर्ताओं को बधाई दी। उसी दिन उन्होंने रायपुर शाखा की कार्यकारिणी के सदस्यों के नाम भी घोषित कर दिये, जो निम्नलिखित हैं—

१.	श्री कान्हजी भाई राठोर	—	अध्यक्ष
२.	श्री डब्ल्यू० एन० मोकासदार	—	उपाध्यक्ष
३.	स्वामी आत्मानन्द	—	सचिव
४.	श्री दुर्गादत्त झा (उर्फ सन्तोषकुमार)		सहायक सचिव
५.	श्री देवेन्द्र कुमार वर्मा	—	कोषाध्यक्ष

सदस्यगण

महन्त लक्ष्मीनारायण दास, डा. ज्वालाप्रसाद मिश्र, डा. वा. वा. पाटणकर, श्री नागोरावजी मायेस्कर, श्री नारायणभाई दामजी पिथलिया, श्री ग्वालदास डागा, श्री शिवजीभाई जयरामभाई राठोर, श्री श्यामकिशोर अग्रवाल, श्री किशनलाल सिंघानिया, डा. बी. सी. गुप्ता, श्री एम. एन. देशपाण्डे।

●

Registered with the Registrar of News papers
for India under No. RN 7764/63.

श्रीरामकृष्ण उवाच

जीव का अहंकार ही माया है। इस अहंकार ने सब कुछ ढक रखा है। 'मैं मिटे जंजाल कटे'। यदि ईश्वर की कृपा से 'मैं अकर्ता हूँ' यह अनुभव हो गया तो मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। उसे फिर भय नहीं।

यह माया या अहं मेघ के समान है। साधारण से मेघ के कारण सूर्य को देख नहीं पाते। जब मेघ हटता है तब सूर्य दीख पड़ता है। यदि गुरु की कृपा से एक बार अहं-बुद्धि मिट जाय, तो ईश्वर के दर्शन होते हैं। श्रीरामचन्द्र मात्र अढ़ाई हाथ दूर हैं। वे साक्षात् ईश्वर हैं। प बीच में सीतारूपिणी म या का व्यवधान है, इसलिए लक्ष्मणरूपा ज व उस ईश्वर को देख नहीं पाता ! यह देखो, मैं गमछे को चेहरे के सामने रख लेता हूँ तो तुम मुझे देख नहीं पाते, तथापि मैं तुम्हारे कितने निकट हूँ। उसी प्रकार भगवान् हमारे सबसे अधिक समीप हैं पर माया के इस आवरण के कारण उन्हें देख नहीं पा रहे हो। जीव तो सच्चिदानन्द स्वरूप है, किन्तु माया या अहंकार के कारण उस पर अनेकों उपाधियाँ पड़ गयी हैं इसलिए वह अपना स्वरूप भूल गया है।

एक उपाधि आकर पड़ी कि जीव का स्वभाव बदला। जो काली किनार की धोती पहनी कि बस उसके मुँह से प्रणय संगीत की धुन सुन लो। ताश खेलना, टहलने के समय हाथ में छड़ी घुमाते चलना-यह सब आ जाता है। दुबला- पतला आदमी भी यदि बूट पहने तो मुँह से सिसकारी देने लगता है और सीढ़ियों पर साहबों के समान उचक उचककर चढ़ता है। मनुष्य के हाथ में यदि कलम हो तो कलम का ऐसा गुण है कि वह सामने जो भी पाये उसी पर फर-फर कलम चलाता रहता है ! ज्ञानलाभ होने पर अहंकार जा सकता है। ज्ञानप्राप्ति से समाधि और समाधि से अहं-नाश।

— १४ दिसम्बर, १८८२

Cover Printed at Shivraj Fine Art Litho Works,
Nagpur-1